इग्नू
जन-जन का
विश्वविद्यालय
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

MHD - 22

कबीर का विशेष अध्ययन

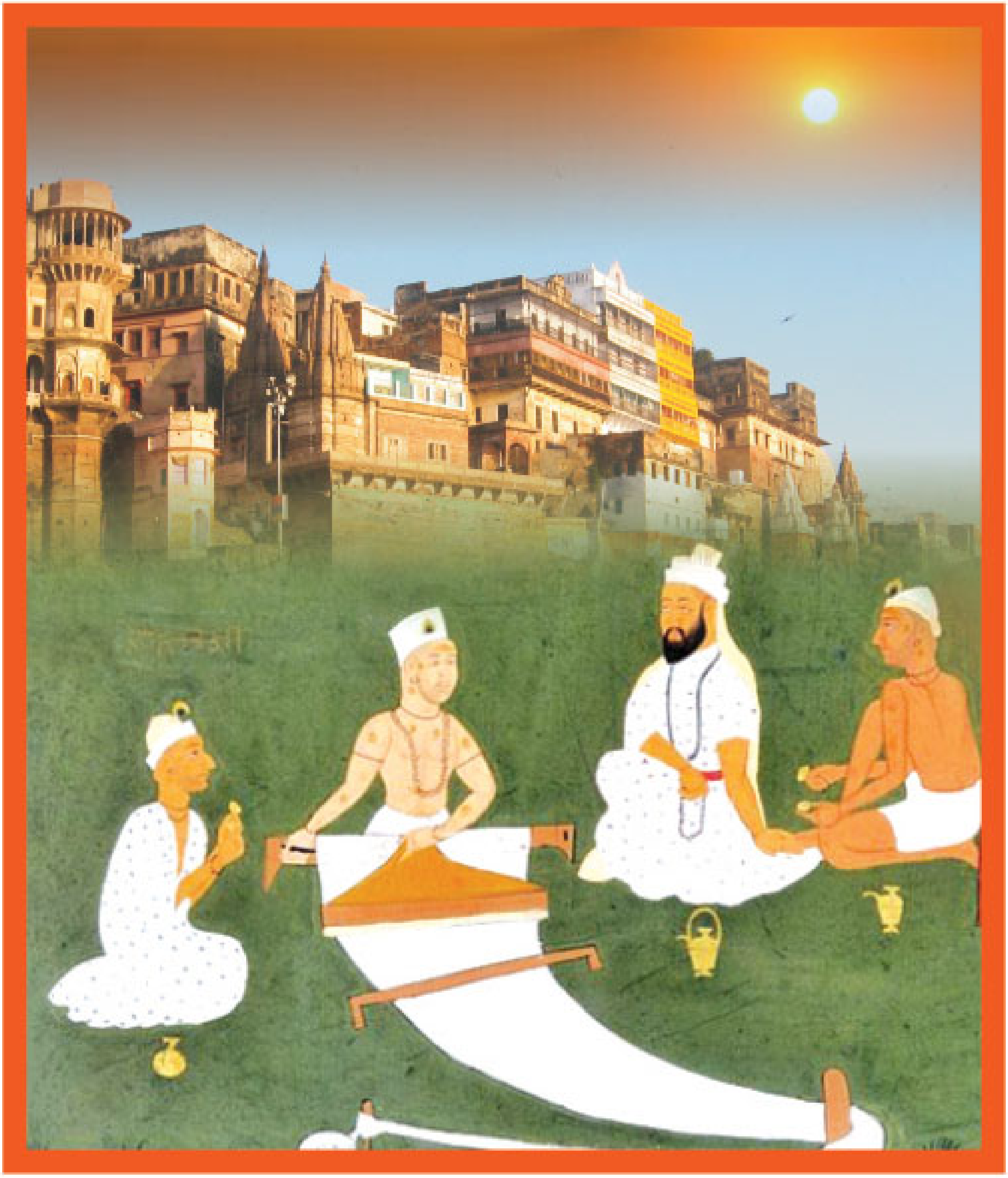

कबीर का मूल्यांँकन और प्रासंगिकता

4

इग्नू
जन-जन का
विश्वविद्यालय

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

MHD-22
कबीर का विशेष अध्ययन

खंड

4

कबीर का मूल्यांकन और प्रासंगिकता

इकाई 14

दलित विमर्श और कबीर 5

इकाई 15

हिंदी आलोचना में कबीर 14

इकाई 16

कबीर की कविताओं का विश्लेषण 34

इकाई 17

कबीर और मानव मुक्ति की धारणा 44

इकाई 18

कबीर का ऐतिहासिक अवदान 57

परिशिष्ट

व्याख्या हेतु निर्धारित पाठ 75

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

विशेषज्ञ समिति

प्रो. नित्यानंद तिवारी (सेवानिवृत्त)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो. मैनेजर पाण्डेय (सेवानिवृत्त)
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. कमला प्रसाद

प्रो. चन्द्रकला पांडेय (सेवानिवृत्त)
कलकत्ता विश्वविद्यालय
कोलकाता

प्रो. ए. अरविन्दाक्षन (सेवानिवृत्त)
कोचीन विज्ञान एवं तकनीकी
विश्वविद्यालय, कोचीन

प्रो. नूरजहाँ बेगम (सेवानिवृत्त)
केंद्रीय विश्वविद्यालय
हैदराबाद

संकाय सदस्य
प्रो. सत्यकाम (निदेशक)
प्रो. शत्रुघ्न कुमार
प्रो. स्मिता चतुर्वेदी
(पाठ्यक्रम संयोजक)
प्रो. जितेन्द्र श्रीवास्तव

पाठ्यक्रम संकल्पना
प्रो. रामबक्ष
प्रो. स्मिता चतुर्वेदी

पाठ्यक्रम निर्माण

इकाई लेखक	इकाई संख्या
प्रो. सत्यकाम मानविकी विद्यापीठ इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली	14
डॉ. ओम प्रकाश तिवारी नई दिल्ली	15
प्रो. स्मिता चतुर्वेदी इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली	16
प्रो. रामबक्ष जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय नई दिल्ली	17
डॉ. अर्चना वर्मा	18

पाठ्यक्रम संपादक
प्रो. सत्यकाम
प्रो. स्मिता चतुर्वेदी

पाठ्यक्रम संयोजक एवं खंड संपादक
प्रो. स्मिता चतुर्वेदी
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, मैदान गढ़ी
नई दिल्ली

सहयोग :
डॉ. अरुण कुमार पाण्डेय
परामर्शदाता, हिंदी, मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

सचिवालयीय सहयोग :
श्री नवल कुमार
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

आवरण :
सुश्री अरविंदर चावला
एडीए ग्राफिक्स, नई दिल्ली

मुद्रण निर्माण

श्री सी. एन. पाण्डेय
अनुभाग अधिकारी
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

जुलाई, 2019

© *इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2019*

ISBN-978-93-89200-33-1

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110 068 से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. सत्यकाम, निदेशक (मानविकी विद्यापीठ) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

लेजर टाइप सेटिंग : राजश्री कम्प्यूटर्स, वी–166ए, भगवती विहार, (नजदीक सेक्टर 2 द्वारका), उत्तम नगर, नई दिल्ली–110059

मुद्रित

खंड 4 का परिचय

इस पाठ्यक्रम का प्रस्तुत खंड 'कबीर का मूल्यांकन और प्रासंगिकता' है। कबीर जनसाधारण के सबसे लोकप्रिय कवियों में से हैं। अतः लोकमानस में उनकी स्मृति साधारण जनता की किंवदंतियों और जनश्रुतियों में सुरक्षित मिलती है। कबीर की रचनाएँ मौखिक परंपरा का अविभाज्य अंग है। चूँकि कबीर के जीवन संबंधी विवरणों का आधार जनश्रुतियाँ तथा किंवदन्तियाँ अधिक हैं अतः उनके जीवन से संबंधित कई विवाद उत्पन्न हुए। आधुनिक अध्ययनों एवं अनुसंधानों ने इन विवादों में निहित महत्वपूर्ण तथ्य तथा प्रश्नों के उत्तर खोजने का प्रयत्न किया है। इस तरह कबीर की आलोचना और मूल्यांकन का भी अपना एक इतिहास बन चुका है। आज हमारे समक्ष कबीर के अध्ययन की अनेक दृष्टियाँ हैं और कबीर के साहित्यिक–ऐतिहासिक अवदान तथा अपने युग के संदर्भ में उनकी भूमिका की अनेक छवियाँ हैं। आधुनिक युग में आलोचना की अनेक धाराओं का विकास हुआ। इन धाराओं में विदेशी तथा भारतीय दोनों ही विद्वानों ने कबीर के साहित्य तथा उनके महत्व पर विचार किया है। आलोचकों ने कबीर के समाज दर्शन को वर्तमान संदर्भों में प्रासंगिक माना है। अपने समय के प्रचलित लगभग सभी मतों एवं दार्शनिक चिन्तन/विचारों का समावेश कबीर की कविता में दिखाई देता है।

इस खंड में कुल पाँच इकाइयाँ हैं। खंड की इकाई 14 'दलित विमर्श और कबीर' है। इस इकाई में कबीर के साहित्य की इस दृष्टि से पड़ताल की गई है कि दलित साहित्य से कबीर की कविता कहाँ और कैसे जुड़ती है। इस इकाई में दलित साहित्य की अवधारणा स्पष्ट करते हुए दलित चिन्तन की दृष्टि से कबीर के साहित्य को परखने का प्रयास किया गया है।

इकाई 15 'हिंदी आलोचना में कबीर' है। आधुनिक काल में विदेशी और भारतीय विद्वान कबीर के अध्ययन को तत्पर हुए। इस इकाई में केवल आधुनिक ही नहीं अपितु मध्यकालीन इतिहास लेखकों से लेकर आधुनिक इतिहासकारों और आलोचकों के कबीर संबंधी विचारों एवं दृष्टियों पर विचार किया गया है।

इकाई 16 'कबीर की कविताओं का विश्लेषण' है। इस इकाई में कबीर की कुछ चुनी हुई साखियों और पदों को विश्लेषित किया गया है। इसके साथ ही कबीर की कविता का विश्लेषण करते समय या उनका अध्ययन करते समय जिन प्रमुख बिंदुओं पर ध्यान देना आवश्यक है उनपर भी विचार किया गया है।

इकाई 17 'कबीर और मानव मुक्ति की धारणा' है। इस इकाई में कबीर के चिंतन के संबंध में मानव मुक्ति की धारणा की जानकारी दी गई है। कबीर की कविताओं में मानव मुक्ति के विविध संदर्भों और दृष्टियों पर भी विचार किया गया है। इस प्रक्रिया में आप कबीर के सामाजिक और दार्शनिक चिंतन की भी जानकारी प्राप्त करेंगे।

इस खंड की अंतिम इकाई 18 'कबीर का ऐतिहासिक अवदान' है। इस इकाई में भक्ति काल के आरम्भ और परंपरा पर विचार करते हुए भक्ति काल में कबीर की स्थिति और अवदान को स्पष्ट किया गया है और साथ ही आधुनिक युग में कबीर की प्रासंगिकता पर विस्तार से विचार किया गया है।

खंड के अंत में परिशिष्ट के अंतर्गत कबीर की कविता से चयनित/निर्धारित पाठ दिया जा रहा है। सत्रीय कार्य और परीक्षा में इन्हीं कविताओं से व्याख्या के प्रश्न पूछे जाएँगे।

इस प्रकार यह खंड संपन्न होता है। खंड में इकाइयों से संबद्ध कुछ उपयोगी पुस्तकों की सूची दी गई है। विषय के विस्तृत और गहन अध्ययन के लिए आप इन पुस्तकों को किसी भी पुस्तकालय से प्राप्त करके अध्ययन कर सकते हैं। इस पाठ्यक्रम से संबद्ध कुछ ऑडियो–वीडियो कार्यक्रम भी तैयार किए जाएँगे जिनकी जानकारी आपको यथा समय उपलब्ध कराई जाएगी।

शुभकामनाओं के साथ!

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 14 दलित विमर्श और कबीर

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 'दलित साहित्य' की अवधारणा

14.3 क्या कबीर 'दलित' थे?

14.4 कबीर की शास्त्रीयता बनाम लोक

14.5 दलित चेतना के निकष पर कबीर का काव्य

14.6 सारांश

14.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

14.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य कबीर को एक नए कोण और नजरिए से देखना और समझना है। कबीर के साहित्य को दलित साहित्य की सीमा में बाँधना निश्चित रूप से कबीर को समझने का एकांगी प्रयास होगा परंतु यह देखना दिलचस्प हो सकता है कि कबीर के साहित्य में 'दलित साहित्य' के कौन-कौन से तत्व मिलते हैं।

इस इकाई को पढ़कर आपः

- 'दलित साहित्य' की अवधारणा से परिचित हो सकेंगे;
- कबीर के संदर्भ में आज के दलित चिंतकों के विचार जान सकेंगे;
- कबीर के साहित्य की 'दलित चिंतन' की दृष्टि से परख कर सकेंगे; और
- कबीर के साहित्य पर इस नवीन दृष्टि से विचार कर सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

आचार्य रामचंद्र शुक्ल से लेकर धर्मवीर तक के कबीर साहित्य संबंधी मत-मतांतर पर नजर डालें तो एक चौंकाने वाला और आश्चर्यजनक तथ्य सामने आ सकता है कि एक ही कवि के पाठ के कितने मतलब हो सकते हैं, कितने आयाम हो सकते हैं। इस इकाई में सबसे पहले इसी पक्ष को सामने रखा जाएगा। कबीर के प्रामाणिक और प्रक्षिप्त पाठ का मुद्दा भी विवादास्पद है।

इस इकाई में हमारा मुख्य उद्देश्य कबीर साहित्य को दलित विमर्श की कसौटी पर कसना और इसके खरेपन की जाँच करना भी है। अतः पहले दलित चिंतन और विमर्श के मूलभूत सिद्धांतों और दायरे का भी आकलन किया जाएगा ताकि यह समझने में मदद मिले कि कबीर साहित्य के तार कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे दलित साहित्य से जुड़ते हैं।

इसके बाद कबीर साहित्य सामने होगा और सामने होगी अवधारणा और फिर पड़ताल की जाएगी कि कवि किसी दर्शन या चिंतन के दायरे में लिख रहा है या कि वह समाज के सवालों को अपनी रचनाओं में सीधे-सीधे उठा रहा है। वह जिस समाज को अपनी

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

रचना के केंद्र में रख रहा है यह कौन-सा समाज है और वह आज के दलित समुदाय से किस प्रकार जुड़ता है। कबीर ने केवल सामाजिक सरोकार की कविताएँ ही नहीं लिखीं बल्कि उनकी कविताओं में भारतीय दर्शन और अध्यात्म भी पूरी शक्ति के साथ उभरा है और 'राम' भी बार-बार आए हैं। कबीर की कविताओं के इस पक्ष को नजरअंदाज या अवहेलना करना कबीर के साहित्य के साथ अन्याय होगा अतः उनके भक्त रूप और भक्ति में प्रेम के स्वरूप को भी अस्वीकृत किया जा सकता है।

यह इकाई अपने आप में अंतिम नहीं है और इसमें उठाई गई बहसें और मुद्दे बहस से परे नहीं हैं। अतः जो कुछ इकाई में कहा गया है उससे सब सहमत हों यह अनिवार्य नहीं पर आपको सोचने के लिए कुछ खुराक, कुछ राहें जरूर मिलेंगी जिनका उपयोग कर आप कबीर को नए ढंग से, आज के आलोक में देखने-परखने, खासतौर पर दलित चिंतन के आलोक में परीक्षण और मूल्यांकन कर सकेंगे। इसे इस युग की उपलब्धि में शुमार किया जा सकता है।

14.2 'दलित साहित्य' की अवधारणा

कबीर को जिस दलित चेतना का संवाहक कहा जाता है उसके पीछे 'ब्राह्मणवादी' चेतना के विरोध की लंबी परंपरा है जिसमें चार्वाक, अश्वघोष, बुद्ध और सरहपा प्रमुख है। इन सभी विचारकों ने ब्राह्मणों द्वारा स्थापित सिद्धांतों और उस पर निर्मित सामाजिक भेदभाव के तिकड़मों का पर्दाफाश किया। इन सभी ने जन्म आधारित वर्ण व्यवस्था और इसे जुड़ी जातिप्रथा को एक सिरे से खारिज किया। आधुनिक युग में दलित आंदोलन के पुरोधा बाबा साहब आंबेडकर ने भी यह बीड़ा उठाया और दलित समाज के उद्धार के लिए राजनीतिक सत्ता और आर्थिक शक्ति अर्जित करने की बात की। चार्वाक से लेकर बाबा साहब आंबेडकर तक ने ब्राह्मणवाद के षड्यंत्र का पर्दाफाश किया है। कबीर भी ब्राह्मणवाद के खिलाफ खड़े दिखाई देते हैं और वे इस परंपरा की मजबूत और प्रमुख कड़ी हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि चार्वाक, अश्वघोष और सरहपा का जन्म ब्राह्मण जाति में हुआ था। अगर आज के दलित चिंतन को माना जाए तो इस 'ब्राह्मण विरोधी' परंपरा को दलित आंदोलन और चिंतन से जोड़ना कठिन हो जाएगा। अभी तक के तय किए मानदंड (ये मानदंड आधुनिक दलित चिंतकों ने ही तय किए हैं) के अनुसार दलितों द्वारा लिखित साहित्य को ही दलित साहित्य के अंतर्गत रखा जा सकता है। तमाम भेदों-मतभेदों के बावजूद यह मान्यता और परिभाषा लगभग सर्वमान्य और रूढ़ हो चुकी है। इसमें गैर दलितों द्वारा दलित व्यक्ति या समाज को केंद्रित कर लिखा गया साहित्य शामिल नहीं है। मसलन, प्रेमचंद की कहानी 'कफन' दलित कहानी नहीं है जबकि ओमप्रकाश बाल्मीकि की रचना 'जूठन' दलित कहानी है। यानी कोई रचना तभी दलित साहित्य के अंतर्गत रखी जा सकती है जब उसका रचनाकार जन्मना 'दलित' हो। जाति भारतीय जीवन की एक सच्चाई है, इसलिए दलित साहित्य की इस तरह की परिभाषा और कसौटी बनना आश्चर्य का विषय नहीं है बल्कि स्वाभाविक है।

लगभग सभी दलित चिंतक और रचनाकार यह मानते हैं कि 'दलित साहित्य की प्रेरणा केवल अम्बेडकरवाद है।' कँवल भारती भी उसी साहित्य को दलित साहित्य मानते हैं जो 'दलित मुक्ति के सवालों पर पूरी तरह अम्बेडकरवादी हैं। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों में उसके सरोकार वे हैं जो आंबेडकर के थे।'

डॉ. ओमप्रकाश बाल्मीकि ने अपनी पुस्तक 'दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र' में यह माना है कि 'दलित चेतना डॉ. अम्बेडकर के जीवन-दर्शन से मुख्य ऊर्जा ग्रहण करती है।' उनके अनुसार 'दलित चेतना' के प्रमुख बिंदु हैं :

1. मुक्ति और स्वतंत्रता के सवालों पर डॉ. आंबेडकर के दर्शन को स्वीकार करना।
2. बुद्ध का अनीश्वरवाद, अनात्मकता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, पाखंड-कर्मकांड विरोध।
3. वर्ण-व्यवस्था विरोध, जातिभेद विरोध, साम्प्रदायिकता विरोध।
4. अलगाववाद का नहीं, भाईचारे का समर्थन।
5. स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय की पक्षधरता।
6. सामाजिक बदलाव के लिए प्रतिबद्धता।
7. आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवाद का विरोध।
8. सामन्तवाद, ब्राह्मणवाद का विरोध।
9. अधिनायकवाद का विरोध।
10. महाकाव्य की रामचन्द्र शुक्लीय परिभाषा से असहमति।
11. पारंपरिक सौंदर्यशास्त्र का विरोध।
12. वर्णविहीन, वर्गविहीन समाज की पक्षधरता।
13. भाषावाद, लिंगवाद का विरोध।

14.3 क्या कबीर 'दलित' थे?

कबीर 'दलित' साहित्यकार थे या नहीं इस पर विवाद और बहस के अनेक बिंदु हैं। पहला तो यह सवाल विवादों के घेरे में है कि कबीर जन्मना 'दलित' थे या नहीं? दूसरा, सवाल कि कबीर की दलित चेतना आंबेडकर के सिद्धांतों से मेल खाती है या नहीं? इन दोनों निष्कर्षों पर सटीक उतरने पर ही कबीर को सही अर्थों में दलित रचनाकार माना जा सकता है क्योंकि दलित चिंतक, मीमांसक, रचनाकार और साहित्यकार दलित साहित्य के लिए इसे पहली और अनिवार्य शर्त मानते हैं। यदि ऐसा न होता तो हिंदी के आधुनिक युग के सबसे बड़े कथाकार प्रेमचंद जिन्होंने हिंदी कथा में 'दलितों' के केंद्रव्यस्था में रखा और उनकी भावनाओं को वाणी दी, 'ब्राह्मणवादी' और 'सामंतवादी' व्यवस्था के खिलाफ आवाज उठाई, के ब्राहमण विरोध और दलित चेतना के समर्थक साहित्य को दलित साहित्य का सिरमौर माना जाता। पर ऐसा नहीं हुआ। प्रेमचंद की उन्हीं रचनाओं की दलित आलोचकों के इस दृष्टिकोण के बरक्स यह पड़ताल जरूरी है कि कबीर जन्मना किस जाति के थे। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', श्यामसुंदर दास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, परशुराम चतुर्वेदी आदि हिंदी के आरंभिक आलोचकों ने कबीर को 'जन्मना' ब्राह्मण माना है जिनका पालन-पोषण एक जुलाहे के घर में हुआ। इस पर उपर्युक्त सभी आलोचक एक मत हैं।

दलित चिंतक कबीर के इन अध्येताओं के इस मत से असहमत हैं कि कबीर 'जन्मना' ब्राह्मण थे। यही नहीं वे इन आलोचकों की मंशा पर भी सवाल खड़े करते हैं। डॉ. धर्मवीर ने कबीर पर बिल्कुल नए ढंग से विचार किया है जो कबीर को समझने की एक नई दृष्टि देता है। धर्मवीर इस मत के घोर विरोधी हैं और वे इसे कबीर के खिलाफ षड्यंत्र भी मानते हैं कि कबीर का जन्म हिंदू धर्म में हुआ था पर उनका पालन-पोषण एक जुलाहे के घर में हुआ था। धर्मवीर कबीर को हिंदू मानने के औचित्य और हठ को शक और शंका की निगाह से देखते हैं और कहते हैं कि 'नीरू और नीमा' का ही पुत्र मानने में क्या हर्ज

है जबकि इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि वे किसी ब्राह्मणी विधवा की संतान थे जिन्हें लोकलाज के भय से लावारिस छोड़ दिया था और जुलाहा दम्पत्ति ने अपना पुत्र बनाकर पालन-पोषण किया। कबीर का जन्म किस जाति की महिला के गर्भ हुआ हो (इसका कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता) पर इतना तो सच है और विवाद से परे है कि वे जुलाहे के घर पले-बढ़े थे और जुलाहे का स्नेह और संस्कार ही उन्हें प्राप्त हुआ था।

अपनी पुस्तक 'कबीर के कुछ और आलोचक' में 'अहिंदू कबीर की खोज' उपशीर्षक से डॉ. धर्मवीर ने फ्रांसीसी विदुषी शारलोत वोदविल के मतों को उद्धृत करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कबीर जन्मना दलित थे। उन्होंने अपने इस लेख में यह भी बताया है कि कबीर वैष्णव नहीं थे, रामानंद के शिष्य नहीं थे, उनका हिंदू परंपरा में किसी प्रकार का विश्वास नहीं था। इसी लेख में डॉ. धर्मवीर कहते हैं - '.....धर्म के रूप में वे आजीवक थे। यह आजीवक धर्म कबीर के भूगोल में 13वीं, 14वीं और 15वीं सदियों तक मौजूद मिलता है।'

दूसरी ओर दलित चिंतक जय प्रकाश कर्दम अपने लेख 'दलित साहित्य में धर्म का द्वंद्व' में लिखते हैं 'दलित साहित्य की मूल मान्यताओं या अवधारणाओं के साथ आजीवकवाद का कोई मेल नहीं बनता।' जयप्रकाश कर्दम के अनुसार ''आजीवक एक नियतिवादी चिंतक हैं, जिसके अनुसार जीवन और जगत में जो कुछ है वह पहले से नियत है।'' यदि ऐसा है तो धर्मवीर का यह कहना कि कबीर धर्म के रूप में आजीवक थे, कबीर के ही विचारों से मेल नहीं खाता जो नियतिवाद में कतई विश्वास नहीं रखते क्योंकि वे यह नहीं मानते कि मनुष्य-मनुष्य में जाति और धर्म के नाम पर जो भेद पैदा किया है वह ईश्वर प्रदत्त है या उनकी 'नियति' है। इसलिए कबीर को आजीवक कहने पर एक बड़ा प्रश्नचिह्न लग जाता है।

डॉ. धर्मवीर के अनुसार 'कबीर ने एक बात बहुत स्पष्ट रूप से कही थी कि वे हिंदू नहीं हैं। ......उन्होंने हिंदू और मुसलमान के दोनों धर्मों से दलित जाति की रक्षा की थी।'

कबीर को 'दलित' ठहराने के लिए डॉ. धर्मवीर एक और तर्क देते हैं, जो गौरतलब है। '....हिंदू समाज में दलित जातियों से उत्पन्न हुआ व्यक्ति सगुण की भक्ति नहीं कर सकता ... कोई भी दलित राम और कृष्ण के मंदिरों पर नहीं चढ़ सकता था और संस्कृत भाषा सीख कर वैदिक ग्रंथों का वाचन नहीं कर सकता था। जुलाहा जाति में जन्म लेने के कारण कबीर को यह सामाजिक अनुमति प्राप्त नहीं थी कि वे काशी के द्विज मंदिरों में चढ़ सकते थे।' सर्वविदित तथ्य है कि हिंदू धर्म में 'अस्पृश्य' जातियों को मंदिर में पूजा-अर्चना करने की अनुमति तत्कालीन समाज नहीं देता था। इसीलिए कोई दलित निर्गुण ईश्वर की आराधना करे इसकी संभावना प्रबल है। कबीर के अलावा दादू, रैदास, पीपा, आदि भक्त कवि 'दलित' जाति में ही पैदा हुए थे और उनके लिए 'निर्गुण' की उपासना के अलावा कोई रास्ता नहीं था। इस सत्य को आधार बनाकर धर्मवीर यह बताने का प्रयास करते हैं कि कबीर दलित थे। पूरा दलित चिंतन दलितों के हिंदू होने से इनकार करता है। अम्बेडकर चिंतन भी हिंदू धर्म में समाहित मनुवादी व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था को ही नहीं नकारता अपितु पूरे हिंदू धर्म को नकारता है।

धर्मवीर का एक अन्य तर्क है कबीर को दलित सिद्ध करने के लिए कि वे हिंदू और इस्लाम दोनों धर्मों की आलोचना करते हैं और पूरी तरह से जाति व्यवस्था और धर्म व्यवस्था को नकारते हैं। यह कार्य कोई दलित ही कर सकता है, गैर दलित हिंदू और मुसलमान नहीं । ध्यातव्य हो कि दलित चिंतन में 'दलित' हिंदू और मुसलमान से अपने को अलग करते हैं।

डॉ. धर्मवीर यह भी कहते हैं कि यदि कबीर हिंदू होते तो हिंदू धर्मावलंबी की तरह पुनर्जन्म, अवतारवाद, जन्म जन्मान्तरवाद आदि पर भी विश्वास करते जबकि उन्होंने इसकी बड़ी कड़ाई से आलोचना की है।

'मानुस जन्म दुर्लभ अहै, बहुरि न दूजी बार।'

X X X X

'मुये गए नहिं बाहुरे, बहुरि न आए फेरि।'

स्वर्ग और नरक की अवधारणा को कबीर खारिज करते हैं :

अनजाने का स्वर्ग नरक है, हरि जाने का नाहीं।

जोहि डर को सब लोग डरत हैं, सो डर हमरे नाहीं।

पाप पुन्य की संका नहीं, स्वर्ग नरक नाहिं जाही।

कहै कबीर सुनो हो संतों, जहाँ का पद है तहों तमाही।

दलित चिंतन यह मानता है कि कबीर 'दलित' थे इसीलिए उन्होंने धर्म, जाति, परम्परा को नकारा और नई व्यवस्था बनाने का आगाज़ किया। परंतु इतिहास में इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर इशारा करते हुए इरफान हबीब अपने लेख एकेश्वरी आंदोलन (भक्ति आंदोलन के सामाजिक आधार, सं. गोपेश्वर सिंह में संकलित) में बाबरनामा को उद्धृत करते हुए कहते हैं ''उत्तर भारत में आज बुनकर दो बड़ी पृथक जातियों में बंट गए है, जैसे कोरी जो हिंदू हैं जुलाहे जो मुसलमान हैं। लेकिन कबीर अपने आपको कोरी और जुलाहे से अलग बताते हैं।' बाबरनामा के इस दृष्टांत के आधार पर वे आगे लिखते हैं 'स्पष्ट रूप में 1500 ईसवी के लगभग बुनकर वर्ग निरंतर परिवर्तनशील था। अभी दोनों जातियाँ बनी नहीं थीं।'

इरफान हबीब का यह मानना है कि कबीर को 16वीं सदी में सूफी या बैरागी के मुसलमान या हिंदू के रूप में नहीं बल्कि मुख्य रूप से 'एकेश्वरवादी' (मुआवाहिद) के रूप में मान्यता मिली थी। उनका यह भी मानना है कि कबीर परंपरा के विचारों का स्रोत किसी एक परंपरा में नहीं खोजा जा सकता। इसलिए कबीर को किसी एक धर्म, जाति या समुदाय से जोड़ना तर्कसंगत नहीं लगता।

14.4 कबीर की शास्त्रीयता बनाम लोक

अभी तक आपने कबीर के बारे में जो कुछ पढ़ा है उससे यह इकाई कुछ भिन्न और कुछ उलट लग रही होगी। यहाँ कबीर के जन्म, मत, गुरु परंपरा (धर्मवीर एक सिरे से इस स्थापित धारणा का खंडन करते हैं कि कबीर रामानंद के शिष्य थे और उन पर वैष्णवी परंपरा का प्रभाव था)। सबको गलत प्रमाणित किया गया है और उसके लिए तर्क भी जुटाए गए हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर पर गहन चिंतन और विश्लेषण किया है और उन्होंने कबीर को एक बड़ा कवि सिद्ध किया है। कतिपय कारणों से रामचंद्र शुक्ल को कवि के रूप में तुलसी, कबीर की अपेक्षा अधिक भाते थे। पर धर्मवीर हजारी प्रसाद द्विवेदी के विवेचन-विश्लेषण को भी अमान्य घोषित करते हैं और उसे शक की निगाह से देखते हुए कबीर को दुरदुराने के षड्यंत्र में शामिल दिखाते हैं।

अपनी पुस्तक 'कबीर के आलोचक' में 'आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : सूर्य पर पूरा ग्रहण' अध्याय में धर्मवीर ने लिखा है कि 'वास्तव में, उन्होंने (हजारी प्रसाद द्विवेदी) इस मध्यकालीन वेद विरोधी विस्फोट को फ्यूज करने की कोशिश की है। उन्होंने कबीर के चिंतन की सारी आग और चकाचौंध खत्म कर दी है।' हजारी प्रसाद द्विवेदी की इस उक्ति की भी कि 'कबीरदास की सच्ची महिमा तो कोई गहरे में गोता लगाने वाला ही समझ सकता है।' धर्मवीर उपहास उड़ाते हैं और कहते हैं कि द्विवेदी जी कबीर को इसलिए नहीं समझ पाए क्योंकि कबीर ने अपनी रचनाएँ 'जनवाणी' में रची थीं और 'जिसका जन-विरोधी संस्कृत भाषा से घोषित विरोध रहा हो, वह साहित्य विद्वानों के लिए दुर्बोध हो गया है।' धर्मवीर का यह मानना है कि हजारी प्रसाद द्विवेदी सहित सभी आलोचकों ने कबीर की वाणी की पौराणिक और शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की इसलिए आज तक हुई व्याख्याएँ गलत हैं। आलोचकों के इस निष्कर्ष का भी धर्मवीर विरोध करते हैं कि वे रामानंद के शिष्य थे। ऐसे सभी अंशों को वे प्रक्षिप्त मानते हैं। धर्मवीर, आचार्य द्विवेदी और अन्य आलोचकों की इस मान्यता का भी खंडन करते हैं कि वे वैष्णव भी थे और योगी भी। धर्मवीर यह नहीं मानते कि कबीर मूलतः भक्त थे। वे मानते हैं कि मूलतः दलित आंदोलन के अगुवा थे।

14.5 दलित चेतना के निकष पर कबीर का काव्य

भाग 14.2 में दलित चेतना के जिन बिंदुओं का जिक्र ओमप्रकाश वाल्मीकि की पुस्तक के हवाले से किया गया है उसमें कई मुद्दे कबीर के काव्य में देखे जा सकते हैं, साम्प्रदायिकता विरोध, सामाजिक न्याय की पक्षधरता, सामंतवाद, ब्राह्मणवाद का विरोध आदि। कबीर के काव्य में से कई अंश उद्धृत किए जा सकते हैं जो आज के दलित चिंतन के काफी करीब हैं। ब्राह्मणवाद का विरोध करते हुए वे लिखते हैं -

एक बूँद ऐके मल-मूतर, एक चाम एक गूदा।

एक जाति थैं सब उत्पन्ना, को ब्राह्मण को सूदा।

जाति ही नहीं धर्म का अतिक्रमण करते हुए कबीर लिखते हैं–

हिंदू कहो तो मैं नहीं, मुसलमान भी नाहिं।

पाँच तत्व का पूतला, गैबी खेलै माँहि।

या फिर

हम वासी उस देष के जहाँ जाति बरन कुल नाहिं।

कबीर का यह तो बड़ा प्रसिद्ध पद है –

न जाने तेरा साहब कैसा है।

मुल्ला होकर बांग न दैवे, क्या तेरा साहब बहरा है।

कीडी के पग नेबर बाजे, सो भी साहब सुनता है।

माला फेरी तिलक लगाया, लंबी जटा बढ़ाता है।

अंतर तेरे कुफर कटारी, यों नहीं साहब मिलता है।

कबीर अपने समाज में व्याप्त जाति और धर्म की फाँक से चिंतित हैं और उनकी यह चिंता सभी प्रकार के अंधविश्वास और कट्टरपंथ के खिलाफ आक्रोश बनकर प्रकट होती है।

ये कुछ उदाहरण हैं जिनमें कबीर बड़े साहस के साथ समाज में व्याप्त असमानता और खासकर जन्म आधारित भेदभाव को नकारते हैं और उस पर प्रहार करते हैं। इसीलिए आज का दलित विमर्श और चिंतन कबीर के काव्य को अपने इतने करीब पाता है।

कबीर भक्त थे और ईश्वर की सत्ता को कभी भी उन्होंने अस्वीकार नहीं किया। निश्चित रूप से उन्होंने धर्म, जाति, वर्ण के आधार पर समाज के विभाजन का विरोध किया। परंतु वे ईश्वर में आस्था रखते थे। यह सही है कि उन्होंने न तो हिंदू धर्म की स्थापनाओं को स्वीकार किया और न ही इस्लाम की। इरफान हबीब भी उन्हें एकेश्वरवादी आंदोलन का प्रमुख मानते हैं और यह भी मानते हैं कि कबीर एवं नानक द्वारा प्रतिपादित यह आंदोलन (एकेश्वरवादी आंदोलन) परंपरित भक्ति आंदोलन से भिन्न है जिसका विकास भी इसी के साथ हुआ।' उनका यह भी मानना है कि '......मध्यकालीन एकेश्वरवादियों ने हिंदू धर्म के आदर्शवाद से जिस तरह अपने विचार लिए, उसी तरह इस्लाम से भी।' परंतु उनका मानना है कि 'महान एकेश्वरवादी गुरुओं ने अस्तित्वमान वर्ग शोषण की प्रथा को अपने उद्देश्यों में जगह दी और न राजनीतिक अधिकारों का विरोध किया ...। ऐसी कोई अपील यहाँ नहीं हैं। .....चूँकि उन्होंने परंपरित हिन्दुत्व और इस्लाम को अस्वीकार किया और चूँकि उन्होंने जाति प्रथा को भी नहीं माना, अतः उनके अनुयायी जाति क्रम में बंधे नहीं हुए महसूस करते थे जो कि मौजूदा जाति क्रम में परिभाषित थे।'

अपने लेख 'मध्ययुग में लोकप्रिय एकेश्वरवाद का ऐतिहासिक विन्यास' में इरफान हबीब निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं कि कबीर एक ऐसे एकेश्वरवाद की स्थापना करते हैं, जिसमें ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण तो है परंतु सारे धार्मिक अनुष्ठानों को नकारा गया है ..... कबीर के लिए ईश्वर से एकाकार होने का अर्थ मनुष्य का एक होना है और इसलिए वहाँ शुद्धता और छुआछूत की प्रथा को संपूर्ण रूप से, स्पष्ट शब्दों में नकारा गया है तथा सब तरह के अनुष्ठानों को अस्वीकार किया है।' सतीश चंद्र का मानना है कि भक्ति आंदोलन जीवनस्तर में बदलाव के लिए किया गया कोई आंदोलन नहीं था बल्कि यह स्वयं की मुक्ति और ईश्वर से एकाकार होने का एक प्रयास था इसमें ईश्वर से निकटता स्थापित करने का प्रयास किया गया था अपने लेख 'मध्ययुगीन भारत का भक्ति साहित्य : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य' में हरबंस मुखिया यह मानते हैं कि भक्ति आंदोलन में उभरा विरोध का आधार नैतिकता के स्तर तक ही सीमित था। वे कहते हैं 'भक्ति आंदोलन' के नेताओं ने अपने काल के सभी सामाजिक वर्गों और सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं को स्वीकार करते हुए केवल यह नैतिक आपत्ति की कि इन संस्थाओं के चालक अपने अधिकार और दायित्व का दुरुपयोग करते हैं। .....अर्थात् भक्ति आंदोलन के पास स्थापित सामाजिक व्यवस्था के किसी विकल्प की व्यवस्था नहीं थी : केवल उसी समाज को आदर्श भाव से चलाने की कल्पना की।

कबीर जैसे एकेश्वरवादी भक्त के संदर्भ में कही गई इन बातों से यह स्पष्ट है कि कबीर अपने समय में किसी जनवादी या दलित आंदोलन का प्रतिनिधित्व नहीं कर रहे थे। वे लोगों को यह बता रहे थे कि सामाजिक भेदभाव ईश्वर प्रदत्त नहीं है बल्कि यह मनुष्य द्वारा रचित है। आज का दलित चिंतन धर्म के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। जयप्रकाश कर्दम अपने लेख 'दलित साहित्य में धम। का द्वंद्व' में लिखते हैं : 'दलित समाज इस बात को, कम से कम वैचारिक स्तर पर, स्वीकार कर चुका है कि किसी ईश्वर से उन्हें कभी कुछ नहीं मिला है इसके विपरीत ईश्वर यहाँ उनके पोषण और दमन का परस्पर आधार रहा है। .....दलित मानस में यदि ईश्वर किसी रूप में था भी तो उसकी मृत्यु की घोषणा अब दलित साहित्य कर चुका है।' दलित चिंतन और कबीर की सोच में यह बहुत बड़ा फर्क है कि कबीर ईश्वर के अस्तित्व को लेकर नकार की स्थिति में हैं। मानवकृत समाज में व्याप्त शोषण और भेदभाव को परंतु कबीर और दलित चिंतक एक

स्वर में अस्वीकार करते हैं। परंतु ध्यातव्य है कि बाबा साहब आंबेडकर ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया था और इसके द्वारा हिंदू धर्म की बुराइयों का विरोध कर रहे थे। वे इसे एक सिर से खारिज करते हैं। बाबासाहेब आंबेडकर के अनुसार एक परिवर्तन करके ही दलितों की स्थिति बेहतर की जा सकती है। इसके बाद स्पष्ट रूप से माना गया कि बिना राजनैतिक और आर्थिक शक्ति प्राप्त किए दलितों का उद्धार नहीं हो सकता है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि कबीर ने कभी भी राजनैतिक सत्ता को चुनौती नहीं दी और न ही उस सत्ता पर दलितों के काबिज होने की बात कही। दलित विमर्श दलितों के राजनीतिक और आर्थिक हक की बात करता है। जहाँ तक जातिगत, वर्णगत, धर्मगत भेद को अस्वीकार करने की बात है कबीर दलित चिंतन से जुड़ते दिखाई पड़ते हैं पर वे अपने समय में किसी प्रकार का दलित आंदोलन खड़ा कर रहे हों ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। इरफान हबीब, सतीश चंद्र, हरबंस मुखिया, के. दामोदरन एक स्वर से भक्ति आंदोलन को कोई ऐसा संगठित आंदोलन नहीं मानते जो सत्ता को चुनौती दे रही हो। कबीर आदि निर्गुण भक्त भक्ति के एक ऐसे मार्ग को तलाश कर रहे थे जिसमें सभी का बिना किसी भेदभाव के ईश्वर से तादात्म्य हो सके। इसी क्रम में वे धर्म के नाम पर समाज में व्याप्त किसी भी प्रकार के भेदभाव का विरोध करते हैं।

14.6 सारांश

इस इकाई में भक्ति काल के प्रमुख कवि कबीर को दलित विमर्श के साथ जोड़कर देखने-परखने का प्रयास किया गया है और इस इकाई को पढ़कर आपको यह अवश्य महसूस हुआ होगा कि कबीर निश्चित रूप से भारतीय वर्ण व्यवस्था और जातिवाद का अपने साहित्य में विरोध कर रहे थे। इस दृष्टि से वह निश्चित रूप से दलित विमर्श के साथ जुड़ते दिखाई पड़ते हैं। लेकिन यह न भूलना होगा कि कबीर एक भक्त भी थे और उन्होंने कभी भी ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया। ईश्वर की सत्ता और उसके नाम पर बनाई गई सामाजिक रूढ़ियों का दलित विमर्श पुरजोर विरोध करता है। कबीर भारतीय समाज व्यवस्था की आलोचना तो करते हैं परंतु इसे ईश्वर द्वारा नहीं मनुष्य द्वारा बनाई गई व्यवस्था ही मानते हैं और इसी रूप में उसकी आलोचना करते हैं। दलित आंदोलन के पुरोधा बाबासाहेब आंबेडकर ने दलितों के उद्धार का बीड़ा उठाया था और दलित समाज के उद्धार के लिए राजनैतिक और आर्थिक शक्ति अर्जित करने की बात कही थी। कबीर कहीं भी दलितों के लिए राजनीतिक सत्ता और आर्थिक शक्ति अर्जित करने की बात नहीं करते हैं। जहाँ तक कबीर को जन्मना दलित बताने का प्रयास है वह दलित विमर्श से तो मेल खाता है परंतु ऐतिहासिक तथ्य इस मुद्दे पर बहुत स्पष्ट नहीं है। दलित विमर्श में वर्ण व्यवस्था के विरोध के साथ-साथ अनीश्वरवाद की बात कही गई है। दलित विमर्श में सामाजिक बदलाव के प्रति प्रतिबद्धता भी जाहिर की गई है और वर्ण-विहीन और वर्ग-विहीन समाज की स्थापना की वकालत की गई है। कबीर परंपरागत भारतीय समाज को चुनौती तो देते हैं परंतु कहीं से यह प्रतीत नहीं होता कि वह कोई आंदोलन खड़ा कर रहे हैं। वस्तुतः कबीर एक जनचेतना के कवि थे जो समाज के दलित और वंचित लोगों की पीड़ा को व्यक्त कर रहे थे। दलित आलोचक डॉ. धर्मवीर का यह तर्क प्रभावित करने वाला है कि दलितों के लिए सगुण उपासना का मार्ग बंद था इसलिए वे निर्गुण उपासना की ओर मुड़े। कबीर के अलावा दादू, रैदास, पीपा आदि भक्त कवि दलित जाति में पैदा हुए थे और वे सभी निर्गुण उपासक थे। डॉ. धर्मवीर यह भी तर्क देते हैं कि कबीर हिंदू और इस्लाम दोनों धर्म की रूढ़िवादिता की आलोचना करते हैं और यह कार्य कोई दलित ही कर सकता है। दलित चिंतन का यह भी मानना है कि कबीर दलित थे इसलिए उन्होंने धर्म, जाति और परंपरा को नकारा तथा एक नई व्यवस्था कायम करने की कोशिश की। परंतु कबीर ने इसके लिए कोई आंदोलन खड़ा किया हो इतिहास में

इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। निश्चित रूप से कबीर सांप्रदायिकता, सामाजिक अन्याय, सामंतवाद और ब्राह्मणवाद का विरोध करते हैं और इस दृष्टि से वे दलित चिंतन से काफी करीब से जुड़े दिखाई देते हैं। कबीर एक एकेश्वरवादी भक्त थे और वह इस बात को अपनी कविता के माध्यम से व्यक्त कर रहे थे कि सामाजिक भेदभाव ईश्वर प्रदत्त नहीं बल्कि मनुष्य द्वारा रचित है। दलित चिंतन ने यह बात सामने रखी की ईश्वर की सत्ता की स्थापना दलितों के शोषण के लिए है और ईश्वर उनके शोषण और दमन का आधार बना। दलित चिंतन और दलित साहित्य ईश्वर की मृत्यु की घोषणा कर चुका है। दलित चिंतन और कबीर की सोच में यही बहुत बड़ा फर्क है कि कबीर ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करते जबकि दलित चिंतन में ईश्वर के अस्तित्व को लेकर नकार की स्थिति है।

14.7 अभ्यास प्रश्न

1. 'दलित साहित्य' की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
2. दलित चेतना के निकष पर कबीर की कविता का मूल्यांकन कीजिए।

14.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., जी-17, जगतपुरी, दिल्ली-110051
2. कबीर के आलोचक-1 डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली -110002
3. कबीर के आलोचक-2 (कबीर के कुछ और आलोचक), डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-110002
4. कबीर के आलोचक-3 (सूत न कपास), डॉ. धर्मवीर भारती, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-110002
5. भक्ति आंदोलन के सामाजिक आधार, सं. गोपेश्वर सिंह, भारतीय प्रकाशन संस्थान, 24/4855, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
6. दलित अस्मिता, सं. विमल थोरात (त्रैमासिक पत्रिका), वर्ष-1, अंक 73, इंडियन इंस्टीट्यूट आफ दलित स्ट्डीज, डी-2/1, रोड नं. 4, एंड्रयूज गंज, नई दिल्ली-110049
7. विमर्श में कबीर, उमाशंकर चौधरी, आधार प्रकाशन, पंचकूला।
8. दलित विमर्श कुछ मुद्दे, कुछ सवाल, आधार प्रकाशन पंचकूला।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

इकाई 15 हिंदी आलोचना में कबीर

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 भक्ति-परक लेखन
15.3 इतिहास-ग्रंथों में कबीर
15.4 आरंभिक दौर के विदेशी विचारक
15.5 हिंदी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में कबीर
15.6 कबीर-काव्य के आधुनिक संकलनकर्त्ता और कबीर
15.7 हिंदी आलोचना ग्रंथों में कबीर
15.8 प्रामाणिक पाठ की खोज
15.9 कबीर-पंथ
15.10 प्रगतिवादी आलोचना में कबीर
15.11 दलित विमर्श और कबीर
15.12 काव्य-कला
15.13 सारांश
15.14 अभ्यास प्रश्न
15.15 कुछ उपयोगी पुस्तकें

15.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आपः

- हिंदी आलोचना में व्यक्त कबीर की छवि का अध्ययन कर पाएँगें;
- विभिन्न हिंदी आलोचकों के परस्पर विरोधी मतों को समझ सकेंगे;
- हिंदी आलोचना में कबीर की बदलती हुई छवि का अध्ययन कर सकेंगे; और
- हिंदी आलोचना में व्यक्त कबीर की छवि के आधार पर उनके जीवन और कविता को समझ सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

कबीर हिंदी भक्ति-कविता के महत्वपूर्ण स्तम्भों में हैं। वे निर्गुणवादी काव्यधारा के सूत्रधार हैं। चूँकि वे जन साधारण के सर्वाधिक लोकप्रिय कवियों में हैं, इसलिए लोक–मानस से उनकी स्मृति अविच्छिन्न रही है। अपने प्रिय लोक नायकों की स्मृति साधारण जनता किंवदन्तियों-जनश्रुतियों के रूप में सुरक्षित रखती है। यही वजह है कि कबीर के संबंध में अनेक दंतकथाएँ समाज में प्रचलित हुई। कबीर की रचनाएँ भी मौखिक परम्परा में पीढ़ी-दर-पीढ़ी सम्प्रेषित होती रही हैं। निरक्षर जन भी गाकर-सुनकर उनका आस्वादन करते रहे हैं। इसलिए कबीर और उनके काव्य की उत्तरजीविता साहित्यिक आलोचनाओं-विमर्शों पर निर्भर नहीं है।

हिंदी जगत और उसके बाहर भी कबीर के समालोचकों की बहुतायत है। आधुनिक युग में उनपर शोध-ग्रंथों की लम्बी सूची है। किन्तु कबीर के व्यक्तित्व का प्रारंभिक मूल्यांकन भक्ति परक परम्परा में ही मिलता है। यहाँ कबीर की ऐतिहासिक छवि से अधिक लोक-मानस में अंकित उनके चित्रों को महत्व मिला है। आधुनिक युग में जब कबीर के ऐतिहासिक व्यक्तित्व की खोज शुरू हुई तब इस परम्परा का महत्व कम होने लगा, फिर भी कबीर सम्बन्धी जानकारियों का मौलिक आधार यही स्रोत बने रहे।

आधुनिक काल में हिंदी आलोचना की कई धाराएँ विकसित हुईं। कई तरह के विद्वान कबीर के अध्ययन को तत्पर हुए। इनमें विदेशी भी हुए और भारतीय भी। आरंभ में कबीर को एक पंथ-संस्थापक धर्मगुरु के रूप में देखा गया। आगे उनकी धर्म-सुधार और समाज-सुधार की चेतना चर्चा का केन्द्र बनी। आलोचना का कार्य समय और समाज के सापेक्ष साहित्य की मीमांसा है। वह कवि और काल के बीच सेतु है। अतः आलोचकों को कबीर का समाज-दर्शन वर्तमान संदर्भों में सर्वाधिक प्रासंगिक लगा। जातिवाद-सम्प्रदायवाद विरोध, बाह्याचारों का खण्डन और मानव मात्र की एकता संबंधी उनकी रचनाएँ बहुत उद्धृत होने लगीं। शोध प्रेमी कबीर की रचनाओं के प्रामाणिक पाठ की खोज में प्रवृत्त हुए। तत्व-मीमांसक उनके दर्शन की पीठिका तथा भारतीय परम्परा में उनकी अवस्थिति एवं अवदान का संधान करने में जुटे और पाया कि अपने समय तक प्रचलित सभी मतों और दर्शन का संश्लेष कबीर में हुआ है। संश्लेष की इस प्रक्रिया में नकार भी है, स्वीकार भी। विद्रोह की परम्परा के सबसे बड़े व्यक्तित्व के रूप में कबीर नजर आते हैं। उनकी कविता का मूल संदेश है– मानवता के कृत्रिम विभाजनों का नकार और प्रेम की सामान्य भूमि पर मनुष्य की समता। कबीर की जाति 'कमीनी' होना एक ऐतिहासिक तथ्य है और निम्न श्रेणी की जनता में आत्मगौरव का अलख जगाना उनका उद्देश्य। दलित-चिन्तन के आदर्श प्रतीक के लिए इतना पर्याप्त था।

कबीर के वास्तविक जीवन पर किंवदन्तियों की धुंध छाई है। फलतः उनके ऐतिहासिक जीवन से संबंधित अनेक विवाद उदित हुए। कबीर के मूलतः जुलाहा होने, रामानन्द का शिष्य होने, सूफ़ी होने, काशी में वास करने, अनेक स्थलों का भ्रमण करने, कबीर-पंथ की स्थापना करने आदि को लेकर विवादों की एक लम्बी श्रृंखला है। कबीर के नाम पर रचनाओं की भरमार है। कबीर-वाणी के संकलन-स्रोतों की कई परम्पराएँ हैं। उनमें पर्याप्त पाठ भेद हैं। मौखिक पदों की अलग परम्परा है। प्रश्न उठता है –कबीर की प्रामाणिक रचनाएँ कौन-सी है? आधुनिक अध्ययनों और अनुसंधानों ने अपने तईं सभी विवादों का समाधान और प्रश्नों का उत्तर खोजने की कोशिशें की हैं।

एक बात और महत्वपूर्ण है। कबीर हिंदी भक्ति कविता के प्रस्तावक हैं। अतएव परम्परा मूल्यांकन का ध्येय लेकर चलने वाली आलोचना की प्रत्येक धारा उनकी व्याख्या अपने लिहाज से करती है। कबीर का व्यक्तित्व इतना विराट है कि जो उनके पास जिस उद्देश्य से जाता है, उसे निराश नहीं होना पड़ता। भक्ति पिपासुओं को भक्ति मिलती है, रहस्यवादियों को रहस्यवाद; समाज-सुधारकों को प्रगतिशील समाज-दर्शन मिलता है तो दलित चिन्तकों को दलित चेतना; सेकुलरों को सर्वधर्म समन्वय मिलता है तो दार्शनिकों को तत्व-मीमांसा। वहीं सहृदय अपने लिए सरस कविता पा लेता है तो सुर-साधक अपने लिए गीत। कबीर सबके हैं और सभी कबीर के। उनका व्यक्तित्व अखण्ड है। इसलिए वे मूलतः क्या हैं– की खोज बेमानी है। कबीर अक्खड़ हैं। उनकी कथनी और करनी में एकत्व है। उनके यहाँ बाह्य आवरणों की अवहेलना है और मनुष्य के सार तत्व का अवगाहन। कबीर को इसी रूप में समग्रता में देखा जाना चाहिए। 'मोल करो तलवार की, पड़ी रहन दो म्यान'।

15.2 भक्ति-परक लेखन

कबीर की 'भक्ति-कस्तूरी की महमही' सम्प्रदायों मतवादों की सीमाओं को लाँघ कर फैली। निर्गुण धारा के साथ-साथ सगुण मतवाद भी अछूता नहीं रहा, इसलिए आश्चर्य नहीं कि हाल ही में प्रकाश में आयी कृष्णभक्त सूरदास के पदों के संग्रह वाली 'फतेहपुर पाण्डुलिपि' (1582 ई.) में कबीर के भी पन्द्रह पद संकलित मिलते हैं। कबीर की लोक-प्रसिद्धि उनके अपने ही काल में व्यापक होने लगी थी, जिसका प्रमाण उनके समकालीन संतों के उल्लेखों से मिलता है। कबीर के गुरु-भाई माने जाने वाले संत पीपा और रैदास उनका उल्लेख प्रशंसात्मक स्वर में करते हैं। पीपा की पंक्ति है–

> जाके ईद-बकरीद कुल गऊरे वध करहिं मनियहिं शेख शहीद पीरा।
> जाके बापि ऐसी करी पूत ऐसी धरी तिहूरे लोक परसिध कबीरा।।

रैदास कबीर के निर्गुणोपासक होने का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि वे जीवन मुक्ति की दशा को प्राप्त हुए थे। इस प्रकार की प्रशंसामूलक उक्तियाँ संत धन्ना, सिख गुरु अमरदास आदि की रचनाओं में भी उपलब्ध हैं। इससे स्पष्ट होता है कि कबीर अपने जीवन काल में ही पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुके थे। उन पर टिप्पणियों का सिलसिला उनके बाद भी अनवरत जारी रहता है। कबीर के निधन के कोई आधी सदी के भीतर ओरछे वाले हरिराम शुक्ल 'व्यासजी' उनका स्मरण श्रद्धापूर्वक करते हैं। व्यासजी के अनुसार जुलाहा कबीर सच्चे रामभक्त थे और भक्ति के आवेश में अपने पैतृक व्यवसाय को भी त्याग कर दिया। कबीर ने रामानन्द का शिष्यत्व ग्रहण किया तथा संत कमाल उनके पुत्र थे।

सामुदायिक चेतना के स्मृति-तंत्र में आकांक्षित कल्पित आदर्शों का प्रक्षेप जातीय नामों के व्यक्तित्व में होता है। फलस्वरूप इतिहास-पुरुषों से संबंधित अनेक जनश्रुतियाँ अस्तित्वमान होती हैं और समय के सापेक्ष उनकी व्यापकता बढ़ती जाती है। कबीर के संबंध में भी कालान्तर में अनेक अनुश्रुतियों का विकास हुआ। सोलहवीं सदी के अंत तक प्रचलित हो चुकी ऐसी अनुश्रुतियों का संकलन अनन्तदास कृत 'कबीर परचई' है। गुरु रामानन्द से 'छद्म-दीक्षा' की जनश्रुति का वर्णन सर्वप्रथम 'परचई' में ही मिलता है। इसके अनुसार दीक्षा पाने के लिए कबीर गंगा किनारे सीढ़ियों में लेट गए। अंधेरे में रामानन्द का पैर उन पर पड़ते ही गुरु के मुख से राम-राम निकला जिसे कबीर ने गुरु-मंत्र के रूप में स्वीकार कर लिया। आगे रामानन्द ने कबीर को अपना शिष्य स्वीकार कर लिया। अनन्तदास द्वारा चित्रित कबीर की छवि अलौकिक एंव चमत्कारी दिखाई देती है। अनन्तदास बताते हैं कि जुलाहा कबीर गृहस्थ थे और संभवतः निर्धन भी। यहाँ उनके समर्थकों के साथ-साथ निंदकों एवं विरोधियों का संकेत भी किया गया है। 'हिंदू-तुरक से न्यारा' कबीर का विद्रोह चूँकि दोनों ही सम्प्रदायों के प्रभु-वर्ग के प्रति था, इसलिए उनके बैरियों में पंडितों-मुल्लाओं से लेकर तत्कालीन सुल्तान सिकंदरशाह को भी बताया गया है। इस तरह अनन्तदास 'न हिंदू न मुसलमान' वाले कबीर के अखण्ड और विद्रोही व्यक्तित्व की पुष्टि करते हैं।

कबीर और उनके कृतित्व पर एक सारगर्भित किन्तु संक्षिप्त टिप्पणी नाभादास कृत 'भक्तमाल' में मिलती है। इसमें व्यक्त कबीर के व्यक्तित्व की पुष्टि स्वयं कबीर की कविता से भी होती है। उनके समग्र मूल्यांकन के संदर्भ में नाभादास का यह छप्पय अत्यंत महत्वपूर्ण है–

> कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षटदरसनी।
> भक्ति विमुख जो धर्म सो अधरम करि गायो।

जोग जग्य ब्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो।।
हिंदू त तुरक प्रमान रमैनी शब्दी साखी।
पक्षपात नहिं वचन सबही के हित की भाखी।।
आरूढ़ दशा ह्वै जगत पर मुख देखी नाहिन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षटदरसनी।।

इसका अर्थ यह है कि कबीर ने परम्परागत वर्णाश्रम और षड्दर्शन (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तरमीमांसा) को महत्व नहीं दिया। भक्ति-विमुख धर्म की अधर्म कहकर निंदा की। भजन रहित योग, यज्ञ, व्रत, दान आदि को तुच्छ माना। अपनी रमैनी, शब्दी और साखी में हिंदू-मुसलमान दोनों को प्रमाण सिद्धान्त सुनाया। किसी का पक्ष न लेकर सबके हित की बातें कही। प्रेम दशा में आरूढ़ कबीर ने किसी की मुँह देखी नहीं कही।

कबीर का श्रद्धापूर्वक स्मरण करने वालों में आगे 'भक्तमाल' के प्रसिद्ध टीकाकार प्रियादास उपस्थित होते हैं। प्रियादास ने 'भक्तिरस बोधिनी' टीका में अपने समय तक प्रचलित हो चुकी कबीर संबंधी धारणाओं और अनुश्रुतियों को स्थान दिया है। यहाँ अनन्तदास द्वारा उल्लिखित अनुश्रुतियों की लगभग पुनरावृत्ति हुई है। इससे जन-मानस में बद्धमूल हो चुकी कबीर की अलौकिक चमत्कारी छवि का पता भी मिलता है।

इसके अतिरिक्त भक्तिपरक लेखन की परम्परा में अन्य संतों दादूदयाल, रज्जबदास, बषना, चरनदास आदि की कबीर संबंधी टीका-टिप्पणियाँ भी उल्लेखनीय हैं। इन संतों ने कबीर का स्मरण अत्यंत श्रद्धा के साथ किया है।

कबीर-बानियों की एक धारा मौखिक-वाचिक परम्परा में प्रवाहित हुई। सदियों से भजनों के लोक-गायक कबीर के पदों को अपनी वाणी देते रहे हैं। यद्यपि कबीर की रचनाओं की लिखित परम्परा में उनके मौखिक परम्परा के पदों को खोज पाना आज अत्यंत कठिन है, किन्तु जन-सामान्य की चेतना में कबीर—वाणी इसी रूप में जीवित रही है। दूसरे शब्दों में, लोक-मानस में कबीर की स्मृति जनश्रुतियों एवं मौखिक पदों के रूप में सुरक्षित रही है। इससे जो छवि सामने आती है वह 'लोक' की आकांक्षाओं के अधिक निकट है। कबीर की यह छवि रूढ़ि-आडम्बर विरोधी, जातिवाद-संप्रदायवाद विरोधी, शोषण के प्रति प्रतिकार वाली तथा प्रेम के धरातल पर मानव समता की पक्षपाती है।

भक्ति परक परम्परा के भीतर ही कबीर की एक अन्य छवि का निर्माण कबीर-पंथ के अन्तर्गत हुआ। यहाँ कबीर एक पंथ-संस्थापक धर्मगुरु के रूप में दिखाई देते हैं। पंथी साहित्य में बताया गया है कि धर्मदास उनके प्रत्यक्ष शिष्यों में थे, जिन्होने स्वयं कबीर के कहने पर कबीर-पंथ की स्थापना की। कबीर-वाणी के पंथी संग्रह 'बीजक' में कई ऐसे पद मिलते हैं जो कबीर-पंथ की विचारधारा के परिपार्श्व में हैं, किन्तु उनकी पुष्टि अन्य स्रोतों से नहीं होती।

15.3 इतिहास-ग्रंथों में कबीर

अपने समय और समाज को गहराई में प्रभावित करने वाले कबीर मध्यकालीन इतिहास-लेखकों से भी अलक्षित नहीं रहे। ये लेखक उनका उल्लेख प्रायः 'मुवाहिद' (एकेश्वरवादी) के रूप में करते हैं। इतिहास ग्रंथों में कबीर का सर्वप्रथम बेहद संक्षिप्त परिचय अकबर के दरबारी अबुल फजल के 'आइने अकबरी' में मिलता है। इसके अनुसार कबीर हिंदी के कवि थे जिनके काव्य एवं कृत्यों के संबंध में अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। अपने उदार सिद्धान्तों एवं ज्योतित जीवन के कारण वे हिंदू और मुसलमान दोनों के लिए पूज्य

थे, इसलिए उनकी अन्त्येष्टि को लेकर विवाद भी हुआ। फजल के अनुसार कबीर 'मुवाहिद' थे, जिनकी समाधि पुरी और रतनपुर में है।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि हिंदू-मुसलमान समेत सभी मतों को माननेवालों के समक्ष भक्ति के सामान्य मार्ग का प्रतिपादन करने तथा सभी को एक ही ईश्वर का अंश बताने के कारण कबीर को मध्ययुगीन इतिहासकारों ने 'मुवाहिद' (एकेश्वरवादी) कहा। कबीर के दर्शन का अवलोकन करने पर यह स्थापित होता है कि उनका एकेश्वरवादी सामा धर्म-पद्धतियों के 'एकेश्वरवादी' से अलहदा है। सामी 'एकेश्वरवादी' में एक ईश्वर की उपासना के साथ-साथ साम्प्रदायिक धर्मग्रंथ Scripture) (जैसे-कुरान या बाईबिल) तथा पैगम्बर (Prophet) में आस्था रखना भी अनिवार्य है, जबकि कबीर के यहाँ वेद-कुरान की अवहेलना तथा मनुष्य और ईश्वर के बीच किसी भी मध्यस्थ की भूमिका का नकार स्पष्ट दिखाई देता है। अबुल फजल ने भी कबीर के विषय में कहा है कि उन्होंने अपने समय के सिद्धान्तों का प्रतिकार कर दिया था।' अतः कबीर के संदर्भ में 'मुवाहिद' का अर्थ सभी के लिए ईश्वर की मान्यता तक ही सीमित समझना चाहिए।

एक अन्य मध्यकालीन इतिहास ग्रंथ 'दबिस्ताने मजाहिब' में भी कबीर को 'मुवाहिद' कहा गया है। लेखक ने कबीर का परिचय देते हुए लिखा है कि 'जन्म से जुलाहे कबीर' जो ब्रह्मैक्य में विश्वास करने वाले हिन्दुओं में मान्य, एक बैरागी। बैरागियों के बारे में कहा गया है कि उनका रास्ता वेद और कुरान के विपरीत है। उन्हें न हिन्दुओं से कुछ लेना-देना है न मुसलमानों से । इस ग्रंथ में कुछ मुसलमानों का भी; ''वैरागियों'' के अन्तर्गत उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त 'छद्म-दीक्षा' की अनुश्रुति का उल्लेख करते हुए रामानन्द को लेखक ने कबीर का गुरु स्वीकार किया है।

पद्धति को हिंदूवाद और इस्लाम दोनों से अलहदा बताते हैं और दोनों ही सम्प्रदाय के लोगों में उनकी मान्यता को रेखांकित करते हैं। कबीर की यह छवि उनकी कविता में स्वयं को 'न हिंदू न मुसलमान' कहने की अनुरूप ही है। हालाँकि मध्यकालीन इतिहाकारों द्वारा उनके संदर्भ में 'मुवाहिद' शब्द के प्रयोग के कारण आधुनिक काल में उनके अध्येताओं के बीच कुछ भ्रम और विवाद भी पैदा हुए। इसके आलोक में कुछ लोगों ने कबीर को इस्लाम और सूफ़ी मत का अनुयायी माना तो कुछ विद्वान उनमें ईसाइयत का प्रभाव खोजने लगे।

उन्नीसवीं सदी के एक ग्रंथ गुलाम सूखर कृत 'खजीनतुल असफिया' में भी कबीर के दिव्य व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। कबीर संबंधी तिथियों को ग्रंथ में हिजरी संवत् में प्रस्तुत किया गया है। कदाचित पहली बार गुलाम सूखर ने ही शेख तकी को उनका गुरू बताया और उन्हें सूफी संत के रूप में चित्रित किया। इससे प्रभावित होकर आगे इस मान्यता की परम्परा भी चल पड़ी। 'इन्फ्लुएंस ऑफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर' में इतिहासकार ताराचंद ने भी कबीर को इस्लाम तथा सूफी मत से प्रभावित माना, तथापि वे रामानन्द को ही उनका गुरु स्वीकारते हैं।

कबीर का ऐतिहासिक व्यक्तित्व मध्यकालीन उल्लेखों एवं जनश्रुतियों के आवरण में धुँधला सा गया है। यही वजह है कि उनके सामान्य जीवन तथ्यों को लेकर भी आधुनिक इतिहासकारों में मतैक्य का अभाव रहा। यह मतभेद कबीर के दर्शन के संदर्भ में भी दिखाई पड़ता है। फर्कुहर (आउटलाइन ऑफ रिलिजस लिट्रेचर ऑफ इंडिया) की दृष्टि में कबीर भेदाभेदवादी प्रतीत होते हैं तो आर. जी. भण्डारकर उन्हें द्वैतवादी समझते हैं। कबीर के जन्मकुल, गुरु, जीवनकाल तथा जन्म-मृत्यु के स्थान के संदर्भ में भी विवाद है। कबीर-पंथी मान्यताओं के कारण भी भ्रम एवं विवादों को बल मिला। आरंभिक दौर के आधुनिक इतिहासकारों ने कबीर को ही पंथ की स्थापना का श्रेय दिया जबकि आगे के

अनुसंधानों से स्पष्ट हो गया कि कबीर ने स्वयं किसी पंथ की स्थापना नहीं की थी। दूसरी ओर आर. जी. भंडारकर आदि ने रामानन्द और कबीर के ऐतिहासिक जीवन-काल की खोज करते हुए उनके बीच प्रत्यक्ष गुरु-शिष्य संबंध पर भी संशय प्रकट किया है। इसके अलावा इतिहासकार कबीर के परम्परागत 120 वर्षों के जीवन-काल (1398-1518 ई.) की अवधि को भी संदेहास्पद मानते रहे हैं। सामान्यतः माना जाता है कि कबीर जन्मना जुलाहा थे।

इस प्रकार कबीर के ऐतिहासिक व्यक्तित्व को लेकर इतिहासकारों के बीच पर्याप्त मतभेद रहे हैं, तथापि इस पर सभी एकमत हैं कि कबीर एक महान सुधारक, श्रेष्ठ चिन्तक, सम्प्रदायवाद-जातिवाद विरोधी, बाह्याचारों-रूढ़ियों का खण्डन करने वाले निर्गुणोपासक संत थे। उनकी साधना-पद्धति पर विभिन्न मतवादों का प्रभाव भी निर्विवाद है।

15.4 आरम्भिक दौर के विदेशी विचारक

औपनिवेशिक काल में अंग्रेज विचारकों को विभिन्न कारणों से भारतीय धर्म, साहित्य और चिन्तनधारा को जानने-समझने की जरूरत महसूस हुई। इसी क्रम में कुछ विदेशी विद्वानों ने अपने सरोकारों के मुताबिक कबीर के व्यक्तित्व, कृतित्व एवं कबीर-पंथ का अध्ययन किया और इसके लिए उन्होंने अधिक कबीर-पंथी स्रोतों का सहारा लिया। ये विचारक आधुनिक दृष्टि से कबीर पर विचार करने वाले आरम्भिक अध्येताओं में से हैं और इनका महत्व इसलिए भी है कि आगे कबीर संबंधी आलोचना इनके विचारों से कई रूपों में प्रभावित हुई।

इन विदेशी विचारकों में पहले महत्वपूर्ण व्यक्ति एच. एच. विल्सन हैं, जिनकी पुस्तक 'स्केच ऑफ द रिलीजस सेक्टर्स ऑफ हिंदू' में हिन्दुओं के नाना धार्मिक सम्प्रदायों का खोजपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करने के क्रम में कबीर और कबीर-पंथ पर भी विचार किया गया है। 'प्राच्यवादी' अध्येता विल्सन का मूल सरोकार कबीर-पंथ से है और कबीर संबंधी जानकारियों के लिए पंथी-स्रोतों को ही महत्व देते हैं। उनके अनुसार कबीर के समय में ही कबीर-पंथ स्थापित हुआ। धर्मदास, सूरत गोपालदास आदि कबीर के प्रधान शिष्यों में थे। विल्सन कबीर के ऐतिहासिक अस्तित्व पर संदेह करते हैं। उनके अनुसार 'यह असम्भव नहीं लगता कि कबीर नामक कोई व्यक्तित्व कभी अस्तित्व में रहा ही न हो और यह नाम हिन्दुओं के कुछ मुक्त-विचारकों के नवाचारों के लिए महज आवरण भर हो।' उनके अनुमान के अनुसार 'कबीर' कुछ हिंदू और मुसलमान कवियों द्वारा –'प्रयुक्त तखल्लुस' अथवा कल्पित नाम भी हो सकता है। बावजूद इसके विल्सन महोदय कबीर-वाणी में व्यक्त ईश्वर की एकता तथा समाज-दर्शन की सराहना करते हैं।

रेवरेंड जी. एच. वेस्टकॉट कबीर और कबीर-पंथ पर एक स्वतंत्र पुस्तक–'कबीर एंड द कबीर–पंथ' के साथ उपस्थित होते हैं। वेस्टकॉट ईसाई मिशनरी थे और मिशनरी आवश्यकताओं के मद्देनजर ही उन्होंने कबीर का अध्ययन किया। उनकी दृष्टि में कबीर मुसलमान और सूफी और संभवतः ईसाई मत से प्रभावित थे। कबीर के जीवन संबंधी जनश्रुतियों का उदय उनके हिसाब से ईसा मसीह के जीवन संबंधी जनश्रुतियों के प्रभाव में हुआ और शंकराचार्य से लेकर रामानुज, रामानन्द–सभी ईसाइयत से प्रभावित थे। वेस्टकॉट कबीर के 'विधवा–ब्राह्मणी की संतान होने' की किंवदन्ती सहित अनेक जनश्रुतियों का उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार सूफी होने के कारण कबीर का महत्वपूर्ण उद्देश्य था हिंदू-मुसलमान के बीच दूरियों को पाटना और संभवतया इसी कारण वे बनारस में बसे तथा रामानन्द के अनुयायियों से जुड़े भी। उनके मत में कबीर के गुरु रामानन्द नहीं, 'सूफ़ी सेख तकी' थे।

स्पष्टतः वेस्टकॉट की विचारधारा उपनिवेशवादी प्रतीत होती है। उन्होंने कबीर संबंधी स्रोतों के संदर्भ में कृत्रिम रूप से हिंदू-मुसलमान का द्विभाजन खड़ा किया है। वे कबीर को 'हिंदी साहित्य का पिता' बताते हैं तथापि हिंदी साहित्य के प्रणेता का एक मुसलमान होना उन्हें आश्चर्यजनक लगता है। उनके द्वारा प्रस्तुत कबीर संबंधी तथ्य भी इतिहास सम्मत नहीं हैं। हालाँकि वे भी कबीर के सुधारवादी तेवर की प्रशंसा करते हैं और उन्हें 'भारतीय लूथर' की संज्ञा देते हैं।

बीसवीं सदी के आरम्भ में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कबीर के एक सौ पदों का अनुवाद प्रस्तुत किया, जिसकी भूमिका एवलिंग अण्डरहिल ने लिखी। अण्डरहिल ने कबीर को एक श्रेष्ठ रहस्यवादी बताया और उनकी तुलना यूरोप के महान रहस्यवादियों तथा सूफियों से की है। रहस्यवाद के इस ऊपरले स्तर पर संसार की सभी विपरीतताएँ एकत्व में संगलित और संघटित हो जाती हैं। अनन्त और वैयक्तिक का संश्लेष करने वाली कबीर की रहस्य-साधना की विशिष्टता अण्डरहिल तीन बिन्दुओं पर रेखांकित करते हैं। प्रथमतः कबीर कृष्णभक्ति जैसी अतिभावुकता से परहेज करते हैं। दूसरे वे ब्रह्म, **ब्रह्म** और जीव के अद्वैत को द्वैत के साथ स्वीकारते हैं और तीसरे उपास्य से विभिन्न सामाजिक संबंध स्थापित कर वे मन की अमूर्त-उन्मुखता को नियंत्रित करते हैं। इस तरह अण्डरहिल के अनुसार श्रेष्ठ रहस्यवादी होने के बावजूद कबीर व्यावहारिक वास्तविक जीवन से कटते नहीं हैं।

अण्डरहिल की दृष्टि में कबीर एक महान् सुधारक और पंथ-संस्थापक हैं, जिसके भीतर कवि और संगीतकार का व्यक्तित्व भी विद्यमान था। यही वजह है कि उनकी अभिव्यंजना सामान्य जीवन-जगत के उपमानों-रूपकों में होती है। उनके प्रतीक हिंदू-मुसलमान दोनों ही परम्पराओं से आते हैं, इसलिए यह कहना संभव नहीं है कि कबीर ब्राह्मण थे अथवा सूफी, वेदान्ती अथवा वैष्णव।

कबीर पंथी साहित्य पर निर्भरता के कारण विदेशी विचारकों ने अक्सर पंथ–स्थापना का श्रेय कबीर को दिया है। किन्तु इस मान्यता के विपरीत अपने खोजपूर्ण ग्रंथ 'कबीर एंड हिज फॉलोअर्स' में एफ. ई. कहते हैं कि 'पंथ की स्थापना बाद में हुई प्रतीत होती है।' की ने अपने अध्ययन में वेस्टकॉट की कृति की विशेष सहायता लेने के बावजूद अपेक्षाकृत उदारता का परिचय दिया है। उनकी दृष्टि में भी कबीर एक महान सुधारक समाज द्रष्टा थे। ये कबीर पर ईसाइयत का सीधा प्रभाव नहीं मानते तथापि अप्रत्यक्ष प्रभाव की स्वीकार करते हैं : 'जबकि यह निश्चित है कि कबीर किसी ईसाई प्रभाव और संपर्क में नहीं आए और संभवतः ईसाई शिक्षाओं को बहुत कम या बिल्कुल नहीं जानते थे, तथापि भक्ति-आन्दोलन जिससे कि वे सम्बद्ध थे, निस्संदेह ईसाई विचारों का ऋणी था तथा ईसाइयत की ओर से कबीर द्वारा ग्रहण किया गया कोई प्रभाव सामान्यतः इस आन्दोलन की मार्फत ही उन तक आया था।'

निश्चय ही इन विदेशी विचारकों ने कबीर का अध्ययन अपने सरोकारों के अनुरूप किया और कई मायनों में असंगत निष्कर्षों तक पहुँचे। ईसाइयत का कबीर पर प्रभाव ऐसा ही असंगत निष्कर्ष है। किन्तु कबीर की क्रान्तिकारी छवि इनकी दृष्टि में भी प्रशंसा का विषय है। फिर आधुनिक युग में कबीर के अध्ययन के महत्व को रेखांकित करने में भी इनका योगदान है, जिसके फलस्वरूप अनेक विद्वान इस ओर प्रवृत्त हुए।

15.5 हिंदी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में कबीर

कबीर हिंदी साहित्य के महत्वपूर्ण संत कवि हैं इसलिए हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने भी उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की विवेचना की है। सर्वप्रथम गार्सां द तासी 'हिन्दुई

साहित्य का इतिहास' में कबीर के व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हुए कहते हैं – 'कबीर की सभी रचनाओं में ईश्वर की एकता में दृढ़ विश्वास और मूर्तिपूजा के प्रति घृणा का भाव व्याप्त है। ये बातें उन्होंने जितनी हिन्दुओं के संबंध में कही हैं उतनी ही मुसलमानों के संबंध में। उन्होंने उनमें पंडितों और शास्त्रों का जितना मजाक बनाया है उतना ही मुल्लाओं और कुरान का। 'तब भी' कबीर दोनों के द्वारा समादृत और दोनों उन्हें अपने-अपने मत का बताते थे। संस्कृत के विरोध में कबीर ने हिंदी में रचनाएँ की हैं।

कबीर की ऐतिहासिक छवि के संदर्भ में तासी भ्रम में दिखाई देते हैं। वे विदेशी विचारकों के लेखन के आधार पर कबीर की पड़ताल करते हैं और एच.एच. बिल्सन की तरह 'कबीर' नाम को एक 'उपाधि' और 'तखल्लुस' बताते हैं। तासी ने कबीर संबंधी अनेक जनश्रुतियों का विवरण दिया है और उनके बारह शिष्य होने का उल्लेख करते हैं, जिनमें धर्मदास प्रमुख थे। कबीर को वे बहुत बड़ा सुधारक मानते हैं और उनके अनुसार 'कबीर ब्राह्मण भारत के लिए वैसे ही सुधारक थे जिस प्रकार बहुत दिनों बाद मुस्लिम भारत के लिए सैयद अहमद हुए।' 'ब्राह्मण भारत' और 'मुस्लिम भारत' की अवधारणा औपनिवेशिक विचारधारा का परिणाम है।

कबीर का उल्लेख 'शिवसिंह सरोज' तथा मिश्रबन्धुओं के 'हिंदी नवरत्न' और ''मिश्रबन्धु विनोद' में भी मिलता है। मिश्रबन्धुओं के अनुसार कबीर अद्वैतवादी थे, किन्तु अद्वैतवाद के प्रत्येक विचार से सहमत नहीं थे। उनकी रचनाओं को अध्यात्मिक अनुभूति की व्यापकता के कारण उन्होंने श्रेष्ठ कहा है किंतु काव्यत्व की दृष्टि से कबीर की रचनाओं को मिश्रबन्धु नीरस और बेतुकी मानते हैं।

कबीर पर विचार करते हुए ग्रियर्सन और एफ.ई. की सकारात्मक टिप्पणियाँ देते हैं तथा पूरे उत्तर भारत में उन्हें एक समादृत संत बताते हैं, जिन्होंने 'किसी पूर्ववर्ती व्यक्ति की तुलना में हिंदी भक्ति काव्य को लोकप्रिय बनाने और उसके प्रभाव को व्यापक विस्तार देने में कहीं अधिक योगदान दिया।' की महोदय कबीर की प्रशंसा करते हुए यह भी कहते हैं कि ''रामानन्द का शिष्य होते हुए भी अपने उपदेशों में कबीर अपने गुरु से बहुत आगे निकल गए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी थोड़े भिन्न रूप में इस ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर को राम-नाम रामानंद जी से ही प्राप्त हुआ। पर आगे चलकर कबीर के 'राम रामानंद' के राम से भिन्न हो गए। इस तरह शुक्ल जी कबीर की मौलिक साधना-पद्धति को रेखांकित करते हैं। उनकी दृष्टि में निर्गुणवादी कबीर ने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफ़ियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके 'अपना एक अलग पंथ चलाया।' इस तरह शुक्ल जी भी कबीर को एक पंथ-संस्थापक के रूप में देखते हैं तथापि साम्प्रदायिक आधार पर मानवता के विभाजन एवं कर्मकाण्डों पर उनके प्रहारों की सराहना करते हैं : 'देशाचार और उपासना विधि के कारण मनुष्य-मनुष्य में जो भेदभाव उत्पन्न हो जाता है उसे दूर करने का प्रयास उनकी वाणी बराबर करती रही।' शुक्लजी के अनुसार कबीर की प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य चमत्कारपूर्ण बातें निकलती थीं।

कबीर ने समाज के हाशिए पर पड़ी हुई जनता को मानवता की समान भूमि प्रदान की और सभी को एक ही ईश्वर का अंश माना। इसे लक्ष्य कर शुक्लजी ने उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा–'मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया और उसे भक्ति के ऊँचे-से-ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिए बढ़ावा दिया।' दूसरी ओर आचार्य शुक्ल कबीर की रहस्यवादी आत्मानुभूतियों की आलोचना करते हैं। उनकी दृष्टि में काव्य का विषय प्रत्यक्ष जगत होना चाहिए न कि

अन्तस्साधनात्मक अनुभूतियाँ। इसी कारण वे कबीर की आलोचना करते हैं। 'कबीर अपने श्रोताओं पर यह अच्छी तरह भासित करना चाहते थे कि हमने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है इसी से वे प्रभाव डालने के लिए लंबी-चौड़ी गर्वोक्तियाँ भी कभी-कभी कहते थे।

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर पर विस्तार से विचार किया है। अपने इतिहास ग्रंथ 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में वे कबीर को हिंदी साहित्य के एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर के रूप में स्थापित करते हैं। द्विवेदी जी ने कबीर पर स्वतंत्र पुस्तक भी लिखी, जिस पर थोड़ा आगे विचार किया जाएगा। द्विवेदी जी कबीर काव्य को भारतीय चिन्ताधारा की उस अन्तर्वृत्ति का महत्वपूर्ण परिणाम मानते हैं, जो उसे भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य की ओर अनिवार्यतः ठेले जा रही थी। वे कबीर को मूलतः नाथ-पंथ की परम्परा से प्रभावित मानते हैं, जिन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा के आलोक में अन्य मतवादों से दाय स्वीकारते हुए अपनी रचनात्मकता को अभिव्यक्ति दी।

15.6 कबीर-काव्य के आधुनिक संकलनकर्त्ता और कबीर

आधुनिक युग में कबीर-काव्य का संकलन करने वाले विद्वानों ने भी कबीर पर अपना विचार प्रस्तुत किया है। इनमें सर्वप्रथम अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' 'कबीर वचनावली' के 'मुखबन्ध' में कबीर का आलोचनात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत करते हैं। यह साहित्यिक हिंदी जगत में कबीर पर पहली पुस्तक मानी जाती है। 'हरिऔध' जी कबीर को एक पंथ-प्रवर्तक के रूप में देखते हैं तथापि कबीर की क्रांतिकारिता पर वे सकारात्मक टिप्पणी देते हैं।

कबीर-वाणी के संकलन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य बाबू श्यामसुन्दर दास जी का है। 'कबीर-ग्रन्थावली' का सम्पादन करते हुए वे कबीर पर अपना मत प्रस्तुत करते हैं तथा उनके जीवन-संबंधी तथ्यों के लिए जनश्रुतियों का यथासंभव मूल्यांकन करते हैं। कबीर के दार्शनिक व्यक्तित्व के संदर्भ में श्यामसुन्दर दास जी का मत है कि कबीर के 'राम' रामानन्द से भिन्न थे और वे राम को निर्गुण और सगुण दोनों समझते थे। उनकी दृष्टि में कबीर का समय अनीश्वरवाद के सर्वथा अनुकूल था और कबीर ने बड़े ही कौशल से इस अवसर का लाभ उठाकर जनता को भक्ति-मार्ग की ओर प्रवृत्त किया। वे कबीर की साधना को भारतीय परम्परा में देखते हैं जो उनकी अनुभूति और सार ग्राहिता का प्रसाद है। 'मूर्तिद्रोही एकेश्वरवाद' और 'मूर्तिपूजक बहुदेववाद' में सूक्ष्म स्तर पर ऐक्य महसूस करने के कारण ही कबीर हिंदू-मुस्लिम एकता की बात करते हैं। 'उनका दुःख अपने लिए नहीं था, वे अपने लिए नहीं रोते, संसार के लिए रोते हैं, क्योकि कबीर ने साईं के सब जीवों के लिए अपना अस्तित्व समर्पित कर दिया था।' उन्होंने निर्गुण ब्रह्म के शुष्क चिन्तन को प्रेम से सींचा है और इस प्रेम के दो पक्ष हैं — ऐहिक और परमार्थिक।

श्यामसुन्दर दास जी के अनुसार कबीर अत्यंत सरल हृदय के थे। बालकों की तरह उनमें परमार्थता अधिक थी। उनके गर्व को वे साक्षात्कार जन्य कहते हैं जिसकी आत्मा विनय है। कबीर पहुँचे हुए ज्ञानी और बहुश्रुत थे। दास जी उन्हें स्वतंत्र प्रकृति का मनुष्य कहते हैं, 'वे इस बात का अनुभव करते थे कि शारीरिक स्वातंत्र्य के पहले विचार स्वातंत्र्य आवश्यक है। जिसका मन ही दासता की बेड़ियों से जकड़ा हो, वह पाँव की जंजीरें क्या तोड़ सकेगा।' इसलिए कबीर के धर्मसुधार का समाज सुधार से गहरा संबंध है। दास जी कबीर को रहस्यवादी कवि कहते हैं। चिन्तन के क्षेत्र का ब्रह्मवाद कविता के क्षेत्र में जाकर कल्पना और भावुकता का आधार पाकर इस रहस्वाद का रूप धारण कर लेता है। कबीर ने कविता के लिए कविता नहीं की। उनकी विचारधारा सत्य की खोज में बही है और यह जीवनधारा के प्रवाह से भिन्न नहीं है। कबीर के जीवन की तरह उनका काव्य भी

साधारण कोटि से ऊँचा है। उनकी कविता काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों की मुहताज नहीं है। उसमें एक सहज विदग्धता है। इसलिए दास जी की दृष्टि में रहस्यवादी कवियों में कबीर का आसन सबसे ऊँचा है और तुलसी को छोड़कर हिंदी भाषी जनता पर उनके समान या उनसे अधिक प्रभाव किसी कवि का नहीं पड़ा।

'कबीर ग्रंथावली' के एक अन्य संपादक माता प्रसाद गुप्त के अनुसार 'कबीर की रचनाएँ' सबसे अधिक उनके तत्त्व दर्शन के कारण महत्वपूर्ण हैं, किन्तु उनका काव्य-तत्त्व भी उपेक्षणीय नहीं है, वस्तुतः उनका समस्त-दर्शन काव्य बन गया है। 'गुप्त जी कबीर की विरह वेदना में सर्वाधिक सरसता पाते हैं। उनके मत में कबीर की विशेषता इसमें है कि निराकार ईश्वर के उपासक सूफी कवियों को जिस विरह की अभिव्यक्ति के लिए किसी–न–किसी स्त्री की कल्पना करनी पड़ी उसको कबीर ने अव्यक्त की विरहिणी बनकर सफलतापूर्वक व्यक्त किया है। उनकी दृष्टि में कबीर एक दार्शनिक और समाज सुधारक मात्र नहीं थे, कवि भी थे, क्योंकि कवि यदि विचारों और भावनाओं की प्रभावपूर्ण और सरस अभिव्यक्ति मात्र है तो निस्संदेह इस विशेषता में कबीर किसी से कम नहीं। 'कबीर-बीजक' के संपादक शुकदेव सिंह भी कबीर पर सकारात्मक टिप्पणी करते हैं।

15.7 हिंदी आलोचना ग्रंथों में कबीर

कबीर हिंदी काव्य के पुरस्कर्ताओं में से हैं। उनसे टकराए बगैर हिंदी साहित्य की परम्परा का समग्र मूल्यांकन नहीं हो सकता। इसलिए हिंदी का प्रत्येक बड़ा आलोचक कबीर से मुखामुखम करने को बाध्य होता है। हिंदी आलोचना में कबीर के मूल्यांकन की एक दीर्घ परम्परा है, किन्तु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर संबंधी समझ में क्रान्तिकारी हस्तक्षेप करते हैं। अपनी पुस्तक 'कबीर' में उन्होंने 'कबीर' के व्यक्तित्व और उनके कृतित्व का समग्र अवलोकन किया तथा अपने पाण्डित्यपूर्ण अध्ययन द्वारा कबीर-दर्शन की परम्परा का मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार कबीर इस्लाम में सद्यःर्धान्तरित जुगी जाति की पृष्ठभूमि से आते हैं और इसका उनके दर्शन पर गहरा प्रभाव है। द्विवेदी जी कहते हैं कि इस सद्यःर्धान्तरित आश्रमभ्रष्ट वयनजीवी जाति की स्थिति न हिंदू न मुसलमान की थी, इसलिए जब कबीर स्वयं को 'ना–हिंदू ना–मुसलमान' कहते हैं तो आध्यात्मिक दायरे से बाहर इसका संकेत एक सामाजिक तथ्य की ओर भी है और इस प्रकार वे स्वयं को 'उभय विशेष' बता रहे होते हैं।

द्विवेदी जी बताते हैं कि जोगी जाति का संबंध नाथ-पंथ से था, इसलिए कबीर का दर्शन नाथ-पंथी योगी परम्परा का सबसे अधिक ऋणी है। निराकार भाव की उपासना, जातिप्रथा और ब्राह्मण श्रेष्ठता की अवहेलना तथा अवतारवाद के प्रति अनास्था कबीर को उनकी पृष्ठभूमि से ही विरासत में मिली थी। आगे रामानन्द के सम्पर्क तथा वेदान्ती अद्वैतवाद और इस्लाम के 'एकेश्वरवाद' से तत्व ग्रहण कर उन्होंने अपनी साधना का मौलिक राजपथ तैयार किया जिसे प्रेम रस से सिंचित करने में कबीर सूफी दर्शन से भी प्रेरणा पाते हैं। द्विवेदी जी कबीर-दर्शन की साँगोपांग विवेचना करने में इतने सफल इसलिए होते हैं कि वे कबीर द्वारा प्रयुक्त बीज शब्दों की पूरी विकास-प्रक्रिया की परत-दर-परत पड़ताल करते चलते हैं।

द्विवेदी जी मानते हैं कि कबीर में चुनौती देने का साहस भी है और सरलता भी। कबीरदास ऐतिहासिक परिवेश के ऐसे मिलन-बिन्दु पर खड़े थे, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर भक्ति मार्ग; जहाँ से एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना।' वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरूद्ध दिशा में गए हुए मार्गों के दोष–गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। उनकी दृष्टि की व्यापकता

का रहस्य यही है और इसे दम ठोंक कर कह सकने का साहस उनकी अक्खड़-फक्कड़ प्रवृत्ति उन्हें प्रदान करती है। वे समस्त आडम्बरों, रूढ़ियों, बाह्याचारों, विभाजनों की निंदा सस्वर करते हैं। यथास्थितिवाद उन्हें स्वीकार नहीं, अंधविश्वासों का तिमिर ज्ञान के मशाल से मिटाने का उनमें दम-खम है और यह महज थोथी बातें या दावे नहीं हैं, बल्कि आत्मानुभूत सत्य के आलोक में परिवर्तन की बेचैनी है। कबीर जिस समाज में पैदा हुए थे, न तो हिन्दुओं द्वारा समादृत था और न ही मुसलमानों द्वारा पूर्ण रूप से स्वीकृत। वहाँ थी तो अयोग्यता, आत्महीनता का दंश, विपन्नता। 'ऐसे कुल में पैदा हुए व्यक्ति के लिए कल्पित ऊँच-नीच की भावना और जाति-व्यवस्था का फौलादी ढाँचा तर्क और बहस की वस्तु नहीं होती, जीवन-मरण का प्रश्न होता है।' कबीर का व्यक्तित्व जो जैसा है वैसा ही उसे स्वीकारने वाला बिल्कुल नहीं था। इस तरह द्विवेदी जी के कबीर युगांतकारी प्रतिभा सम्पन्न हैं।

कबीर की छवि में द्विवेदी जी अनेक छटाएँ देखते हैं : समाज-सुधारक के रूप में, सर्वधर्म समन्वयकारी के रूप में, हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य-विधायक के रूप में, विशेष सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता के रूप में, वेदान्त-व्याख्याता दार्शनिक के रूप में, कवि के रूप मे, व्यंग्यकार के रूप में। परंतु कबीर का केन्द्रीय रूप द्विवेदी जी के अनुसार भक्त, धर्मगुरु है, बाकी तो उसी का 'बाई-प्रोडक्ट' है, उसी एक छवि की नाम भंगिमाएँ। वे कहते हैं कि कबीर का भक्त-रूप ही उनका वास्तविक रूप है। वस्तुतः कबीर व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे। समष्टि-वृत्ति उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नहीं था। कबीर ने ऐसी बहुत-सी बातें कही हैं जिनसे समाज-सुधार में सहायता मिल सकती है, पर इसीलिए उन्हें समाज-सुधारक समझना गलती है। सर्वधर्म-समन्वय के लिए जिस मजबूत आधार की जरूरत होती है वह कबीर के पदों में सर्वत्र पाई जाती है – भगवान के प्रति निष्कारण प्रेम और मनुष्यमात्र को उसके निर्विशिष्ट रूप में समान समझना। परन्तु द्विवेदी जी के अनुसार आजकल सर्व-धर्म-समन्वय से जिस प्रकार का भाव लिया जाता है, वह कबीर में एकदम नहीं था। सभी धर्मों के बाह्याचारों, संस्कारों के प्रति सम्मान की दृष्टि उत्पन्न करना यही भाव है। कबीर इनके कठोर विरोधी थे। उनसे अधिक जोरदार शब्दों में हिंदू-मुस्लिम एकता का प्रतिपादन किसी ने नहीं किया, किन्तु उन्होंने दोनों धर्मों की ऊँची संस्कृति या उच्चतर भावों में सामंजस्य स्थापित करने की कहीं भी कोशिश नहीं की, बल्कि उन सभी धर्मगत विशेषताओं की खिल्ली उड़ाई है जिसे मजहबी नेता बहुत श्रेष्ठ धर्माचार कहकर व्याख्या करते हैं।

हिंदी काव्य की निर्गुण धारा की खोज करने के क्रम में पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने कबीर पर भी अपना मत प्रस्तुत किया है। उन्होंने कबीर संबंधी विभिन्न स्रोतों का सूक्ष्म अवलोकन कर कबीर के ऐतिहासिक व्यक्तित्व की पड़ताल की। उनके अनुसार कबीर सत्य के शोधक थे। अज्ञान के विरुद्ध उन्होंने घोर युद्ध किया था। बड़थ्वाल जी कबीर के महत्व को रेखांकित करते हुए लिखते हैं: 'हिंदी साहित्य के इतिहास में, कबीर का व्यक्तित्व बहुत ही जिज्ञासापूर्ण है। स्पष्ट अन्तर्दृष्टि, विचारों की ओजस्विता और अभिव्यंजना की सरलता में संभवतः वे अद्वितीय हैं।' बड़थ्वाल जी ने द्विवेदी जी से पूर्व ही कबीर में भक्ति और योग के समन्वय की ओर संकेत कर दिया था। उल्लेखनीय है कि बड़थ्वाल जी ने अपना शोध-प्रबंध 'दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोयट्री' द्विवेदी जी की पुस्तक 'कबीर' से पहले लिखा, जिसका हिंदी अनुवाद बाद में प्रस्तुत हुआ।

बड़थ्वाल जी भी कबीर को मूलतः कवि नहीं मानते। उनके शब्दों में, 'सौष्ठवपूर्ण काव्य-रचना करना उनके अध्ययन का विषय नहीं था। व्यावसायिक कवियों को वे हेय दृष्टि से देखते थे और उन्हें अवसरवादी की संज्ञा से अभिहित करते थे।' बड़थ्वाल जी कबीर को मूलतः रहस्यवादी संत कहते हैं, जिसने मिथ्या आडम्बर को छोड़ दिया था और

आध्यात्मिक आँखों से अपने अन्दर झांककर स्वयं को अपने अन्दर विद्यमान ईश्वर के सामने खड़ा पाया था। कबीर की गर्वोक्तियों के संदर्भ में उनका कहना है कि ये उनके अपने मत में लोगों को दृढ़ करने के कारण होती हैं। 'कबीर के सिद्धान्तों की ओर ध्यान देने से पता चलता है कि ये तथाकथित गर्वोक्तियाँ कबीर ने दंभ के कारण नहीं कही हैं वरन् मनुष्य के महत्व को प्रत्यक्ष करने के लिए कही है।' बड़थ्वाल जी भी कबीर को पंथ-संस्थापक कहते है : 'अपनी समान बुद्धि के लोगों के लिए कबीर एक नवीन पंथ की स्थापना करना चाहते थे।'

'उत्तरी भारत की संत परम्परा' पर खोजपूर्ण अध्ययन करने वाले परशुराम चतुर्वेदी कबीर को पंथ-संस्थापक नहीं मानते। वे कहते हैं – 'इसमें संदेह नहीं कि कबीर साहब के जीवन काल में ही उनके अनेक अनुयायी बन चुके होंगे, किन्तु फिर भी इतना निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनकी सहायता से उन्होंने किसी पंथ विशेष के निर्माण का आयोजन अवश्य किया होगा। जहाँ तक जान पड़ता है, उन्होंने सदा एक सार्वभौमिक धर्म का ही उपदेश दिया था जिसे किसी प्रकार का साम्प्रदायिक रूप देने की कोई आवश्यकता नहीं थी।' उनके मत में कबीर के सामने विभिन्न सम्प्रदायों के बीच विवाद की समस्या कोरे परमार्थ की भावना से ही प्रेरित होकर नहीं आती, बल्कि उन्होंने इसे निजी स्वार्थ का प्रश्न भी बना लिया था जिसका निबटारा किए बगैर उन्हें किसी प्रकार चैन नहीं पड़ता।

चतुर्वेदी जी की दृष्टि में कबीर कोई दार्शनिक नहीं थे। उनका उद्देश्य अपनी रचनाओं द्वारा किसी अन्तिम सत्य की खोज कर उसका निरूपण मात्र करना रहा। कबीर स्वभावतः एक धार्मिक व्यक्ति थे। अपनी रचनाओं में वे निर्गुण और सगुण दोनों का वर्णन करते दिखाई देते हैं। पर इसी कारण उन्हें न निर्गुणवादी कहा जा सकता है न सगुणवादी। उनके सिद्धान्तानुसार सत्य निर्गुण तथा सगुण दोनों से परे है और अनुभव में आ जाने पर भी अनिर्वचनीय है।

चतुर्वेदी जी कबीर को 'पूरे समानतावादी' कहते हैं। कबीर के यहाँ सामाजिक प्रश्न आर्थिक या राजनीतिक प्रेरणाओं से जागृत नहीं होते, अपितु ठेठ 'समाज धर्म' के अनुसार उठा करते हैं। मानव-समाज के सभी अंग मूलतः एक हैं, अतः केवल उनके अधिकार मात्र में ही समानता देखना अधूरा कार्य समझा जा सकता है। कबीर की क्रांतिकारिता अपनी सामाजिक व्यवस्था या परिस्थिति के उलट-फेर की ओर इतना ध्यान नहीं देती जितना समाज के व्यक्तियों के हृदय-परिवर्तन की ओर। शुद्धाचरण का व्यापार मानव-समाज में ही चलता है और नैतिक गुणों का प्रयोग समाज के अन्तर्गत ही संभव है। इसलिए व्यष्टि के पूर्णतः सुधरते ही समष्टि का सुधर जाना भी अनिवार्य-सा है। चतुर्वेदी जी का मानना है कि कदाचित इसी कारण कबीर किसी सामाजिक व्यवस्था का आदर्श हमारे समाने रखते हुए नहीं दीख पड़ते।

कबीर और कबीर पंथ का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले केदार नाथ द्विवेदी का शोध-कार्य कबीर के संदर्भ में नई विचार-प्रक्रिया का परिणाम है। उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह सिद्ध करने में रही कि कबीर ने स्वयं किसी पंथ की स्थापना की। उनकी दृष्टि में भी 'कबीर ने एक सार्वभौम धर्म का उपदेश दिया था, जिसे किसी प्रकार का साम्प्रदायिक रूप देने की कोई आवश्यकता ही न थी।' किसी पंथ या मत के प्रतिष्ठापक के लिए तर्क, बुद्धि और पुस्तकों का आधार लेना बहुधा अपेक्षित हुआ करता है। इसके लिए यह भी अनिवार्य है कि कतिपय नियम और उपनियम बनाए जाएँ। कबीर ने इस प्रकार कोई भी प्रयास नहीं किया था। इस प्रकार द्विवेदी जी के अनुसार कबीर में एक पंथ-संस्थापक व्यक्तित्व का सर्वथा अभाव दिखता है। द्विवेदी जी का मानना है कि

सत्रहवीं सदी के प्रथम चरण में आविर्भूत यह धर्मदास ही थे जिन्होंने पंथ को व्यापक बनाने के लिए सर्वप्रथम ठोस कदम उठाया था। इस प्रकार द्विवेदी जी संभवतया धर्मदास को ही कबीर-पंथ का संस्थापक मानते हैं।

15.8 प्रामाणिक पाठ की खोज

आज कबीर के नाम पर काव्य संकलनों की भरमार है। कबीर वाणी के संकलन विभिन्न परम्पराओं से पर्याप्त पाठ-भेद के साथ मिलते हैं। उनमें कथ्य एवं भाषा-शैली के स्तर पर भी भिन्नताएँ हैं। ये भिन्नताएँ इतनी अधिक हैं कि एक परम्परा से प्राप्त पदों को दूसरी परम्परा के स्रोतों में खोज पाना असंभव है। ऐसे में कबीर काव्य के अध्येता के लिए प्रामाणिक पाठ की खोज एक बड़ी समस्या बन जाती है।

अकादमिक जगत में पूर्वी परम्परा (बीजक) को बहुत महत्व नहीं मिला, क्योंकि यह पंथ साहित्य है जिसमें पंथ की आवश्यकतानुसार प्रक्षेपों की संभावना अधिक है। दूसरे कि इसकी बहुत पुरानी पांडुलिपियाँ उपलब्ध नहीं है तथा अनुसंधानों से यह सिद्ध हो चुका है कि पंथ की स्थापना कबीर के बहुत बाद में हुई थी। 'बीजक' की सबसे बड़ी विशेषता इसकी भाषा का पूर्वीपन है। कबीर भी 'पूरब' के थे और उन्होने अपनी भाषा को 'पूरबी' कहा है। संभवतः यही वजह है कि शुकदेव सिंह आदि विद्वान बीजक को एक प्रामाणिक संग्रह मानते हैं। उनका कहना है : 'कबीर का प्रायः प्रामाणिक साहित्य प्रत्यक्ष तथा साम्प्रदायिक रूप में बीजक में ही मिलता है;' तथापि वे भी मानते हैं कि 'समय-समय पर इसमें प्रक्षेप भी हुई हैं।'

साहित्यिक अकादमिक जगत में पश्चिमी परम्परा (दाइ, निरंजनी एवं अन्य स्रोत) को महत्व मिलने का प्रधान कारण उस पंथ की परम्परा का असम्बद्ध होना है। 'कबीर-ग्रंथावली' के संपादकों, यथा—बाबू श्याम सुन्दर दास, माता प्रसाद गुप्त, पारसनाथ तिवारी आदि ने पश्चिमी परम्परा के स्रोतों को ही आधार बनाया है। इसमें सबसे प्रमुख है 'आदिग्रंथ' जिसका संकलन काल 1604 ई. बताया जाता है। पश्चिमी परम्परा के स्रोतों की प्राचीन पाण्डुलिपियाँ भी अध्ययन हेतु उपलब्ध हैं। किन्तु इन पाण्डुलिपियों के संकलन-काल को लेकर विवाद भी रहे हैं। उदाहरण के लिए श्यामसुंदर दास जी ने ग्रंथावली निर्माण में जिस प्राचीन पाण्डुलिपि को आधार बनाया है उसकी संकलन-तिथि बताने वाली पुष्पिका को बाद के अध्येताओं ने जाली घोषित कर दिया। दूसरे पश्चिमी परम्परा के स्रोतों में संकलित कबीर के चमत्कारों वाले पदों के आधार पर भी उनकी प्रामणिकता को लेकर सवाल उठे हैं। तीसरे इन स्रोतों की भाषा पर पंजाबी और राजस्थानी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देते हैं, जबकि कबीर की भाषा 'पूरबी' थी। कथ्य की दृष्टि से कबीर की संवेदना से अधिक निकट होने के कारण पश्चिमी परम्परा को ही प्रामाणिक माना जाता रहा है।

साहित्य के विभिन्न अध्येताओं द्वारा इन स्रोतों के आधार पर आधुनिक काल में तैयार किए गए कुछ महत्वपूर्ण संकलनों का नामोल्लेख यहाँ किया जा रहा है —

1. कबीर वचनावलीः दो खण्ड, सं. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
2. कबीर ग्रंथावली, सं. श्याम सुन्दर दास
3. कबीर ग्रंथावली, सं. माता प्रसाद गुप्त
4. कबीर-बीजक, सं. शुकदेव सिंह
5. कबीर (परिशिष्ट—2) सं. हजारी प्रसाद द्विवेदी
6. द मिलेनियम कबीर—वाणी, सं. विनांड एम. कैल्वार्ट

15.9 कबीर-पंथ

विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों के आधार पर मानवता के विभाजन का पुरजोर विरोध करने वाले कबीर के नाम पर भी एक पंथ की स्थापना हुई। आधुनिक काल में भी जैसा कि हम देख चुके हैं, कई अध्येताओं ने कबीर को मूलतः पंथ-संस्थापक ही माना है किन्तु आगे चलकर इस मान्यता को चुनौती मिली। विदेशी अध्येताओं में एफ. ई. की संभवतः पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने माना कि 'ऐसी संभावना प्रतीत होती है कि कबीर दास ने स्वयं सचेत रूप से किसी पंथ की स्थापना नहीं की यद्यपि निस्संदेह उन्होंने अपनी शिक्षाओं की ओर आकर्षित होने वालों में से कइयों को अपना शिष्य बनाया।' आगे फिर परशुराम चतुर्वेदी ने सुझाया कि कबीर साहब के देहान्त हो जाने के कारण संभवतः कुछ काल अनन्तर 'कबीर पंथ' के नाम से अनेक संस्थाएँ चल पड़ीं और उनके मठ भी स्थापित होने लगे। दूसरी ओर हम देख चुके हैं कि केदार नाथ द्विवेदी यह स्थापित करते हैं कि कबीरदास में एक पंथ-संस्थापक व्यक्तित्व का अभाव था और सत्रहवीं सदी के प्रथम चरण में आविर्भूत यह धर्मदास ही थे जिन्होंने पंथ को व्यापक बनाने के लिए सर्वप्रथम ठोस कदम उठाया था, जबकि इससे पूर्व किसी भी शिष्य ने पंथ-निर्माण की विशेष आवश्यकता न समझी थी।

किसी शिष्य मंडली का होना और किसी संप्रदाय या पंथ का संगठित रूप में विद्यमान रहना दो बातें हैं। यदि कबीर ने सचमुच किसी पंथ का निर्माण किया होता तो निस्संदेह उनके समसामयिक समझे जाने वाले संतों द्वारा उस पंथ की ओर किसी-न-किसी रूप में संकेत अवश्य दिया गया होता अथवा कबीर की प्रामाणिक समझी जाने वाली रचनाओं में इस तथ्य की अवश्य मीमांसा की गई होती। किन्तु हम पाते हैं कि कबीर के बाद भी उन पर टिप्पणी करने वाले भक्ति परक लेखन में एक लम्बे समय तक पंथ-स्थापना की ओर संकेत नहीं मिलता। जाहिर है कि कबीर पंथ की स्थापना बाद में हुई प्रतीत होती है।

कबीर पंथ की कई शाखाएँ और उपशाखाएँ कालान्तर में अस्तित्व में आयीं और कई मठ भी स्थापित हुए। इसमें खास बात यह है कि कबीर पंथ के अधिकतर अनुयायी समाज के निचले तबके से आते हैं। कबीर पंथ की तीन स्वतंत्र शाखाओं की चर्चा की जाती है और शेष अन्य को इन्हीं से विकसित उपशाखाएँ कहा जाता है। ये तीन स्वतंत्र शाखाएँ और उनके संस्थापक इस प्रकार हैं :

1.	छत्तीसगढ़ी शाखा	–	संस्थापक	–	धनी धर्मदास
2.	कबीर चौरा काशी	–	संस्थापक	–	सुरतगोपाल दास
3.	धनौती वाली भगताही शाखा	–	संस्थापक	–	भगवान गोसाई

उल्लेखनीय है कि कबीर पंथ का प्रचार उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य भारत और गुजरात में अन्य भूभागों की अपेक्षा अधिक हुआ है।

15.10 प्रगतिवादी आलोचना में कबीर

महत्वपूर्ण प्रगतिवादी आलोचकों ने कबीर पर कोई मुकम्मिल पुस्तक नहीं लिखी परन्तु उनके लेखन में कबीर पर छिट-पुट टिप्पणियाँ मिल जाती हैं, जिससे कबीर संबंधी उनके विचारों का पता मिलता है। प्रगतिवादी आलोचना का आधार मार्क्सवाद है, इसलिए ये आलोचक कबीर की पृष्ठभूमि, उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का मूल्यांकन वर्गीय आधारों पर करते हैं। स्वभावतः वे कबीर के क्रांतिधर्मी समाज-दर्शन को सर्वाधिक महत्व देते हैं तथा वर्तमान के संदर्भ में उसकी प्रासंगिकता को नए सिरे से रेखांकित करते हैं।

प्रगतिवादी आलोचक कबीर को जीवन जगत से पराङ्मुख रहस्यवादी कहे जाने के विरोधी हैं – इस संदर्भ में वे व्याख्या की नई प्रस्तावना प्रस्तुत करते हैं।

कबीर जैसे व्यक्तित्व के उदय की पृष्ठभूमि को ऐतिहासिक परिवेश में तलाशते हुए राम विलास शर्मा कहते हैं कि 'बारहवीं सदी के बाद भारत में हुए आर्थिक विकास के फलस्वरूप शहर के कारीगरों और गाँव के किसानों की सामन्त विरोधी चेतना मुखर हुई। इस नवीन चेतना के प्रमुख और प्रतिनिधि कबीर हैं।' यही वजह है कि कबीर की कविता धार्मिक विद्वेष और ऊँच-नीच के भेदभाव की तीव्र आलोचना प्रस्तुत करती है। कबीर का स्वप्न शोषण मुक्त समाज है, जो आज भी एक काल्पनिक आदर्श ही प्रतीत होता है। शर्माजी ने इसे लक्ष्य कर लिखा है – 'भारत में जब नए शोषणमुक्त समाज की रचना होगी तब सन्त साहित्य का महत्व और भी निखरकर समाने आएगा। भारतीय जनता जिस नई वैज्ञानिक संस्कृति का विकास करेगी उसका मूल सूत्र कथनी और करनी की वह एकता होगी जिसकी ओर कबीर ने संकेत किया था। वर्गयुक्त समाज-व्यवस्था के शासक सदा ही कहते कुछ रहे हैं, करते कुछ रहे हैं। कबीर ने कर्म और वचन की कसौटी पर ही अनेक मत-मतान्तरों और विश्वासों को परखकर उनकी आलोचना की। यह कसौटी आज भी उतनी ही आवश्यक है, जितनी कबीर के समय।'

शर्मा जी का मानना है कि कबीर और संतों का साहित्य जीवन की अपनी परिस्थितियों से पैदा हुआ था, इसलिए उसका स्रोत बौद्ध धर्म या इस्लाम या हिंदू धर्म में ढूँढ़ना सही नहीं है। इन धर्मों का उस पर असर है लेकिन ये उसके मूल स्रोत नहीं हैं। स्वयं कबीर इन सभी धर्मों की अवहेलना करते उपस्थित होते हैं और सिद्धों और नाथपंथी योगियों को भी नहीं छोड़ते जो अपनी रहस्यदर्शिता की धाक जमाने के लिए बाह्य जगत की बातें छोड़, घट के भीतर के कोठों की बात बताया करते थे। सिद्धों और योगियों का रहस्यवादी चिन्तन जीवन से पराङ्मुख था, इसलिए कबीर उन पर प्रहार करते हैं। अतः शर्माजी के मत में कबीर को रहस्यवादी नहीं कहा जा सकता। उनमें भावात्मक और साधनात्मक रहस्यवाद के तत्व देखे जा सकते हैं लेकिन उन्होंने रहस्यवादी नाथपंथियों का खण्डन भी किया है। शर्माजी मानते हैं कि 'कबीर का सबल पक्ष पवन को उलट कर सहस्रार में ले जाने में नहीं है वरन् ब्रह्म साक्षात्कार के लिए प्रेम का मार्ग दिखाने में है', प्रेम के मार्ग से हटकर ज्ञान, ध्यान, पूजा, नमाज और योग की धज्जियाँ उड़ाने में है। कबीर की क्रान्तिकारी भूमिका साधारण जनता को नाथपंथियों के प्रभाव से मुक्त करने में है जिनके प्रभाव में उसका हृदय शुष्क पड़ता जा रहा था। 'यह कार्य कबीर ने दार्शनिक क्षेत्र में किया। दूसरा काम उन्होंने यह किया कि प्रेम के आधार पर मनुष्यता की सामान्य भावना के आधार पर निम्न श्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव जगाया।'

नामवर सिंह हिंदी साहित्य धारा में कबीर और उनके काव्य की पहचान समन्वयवादी और सुधारवादी परम्परा से भिन्न 'अक्खड़ क्रान्तिकारी' और 'विद्रोही' 'दूसरी परम्परा' के रूप में कहते हैं। हिंदी साहित्य का विद्रोही तेवर उनकी दृष्टि में कबीर की विरासत है जो आधुनिक युग तक विस्तृत है। कबीर द्वारा जातिव्यवस्था पर करारी चोट को लक्ष्य कर कहते हैं : 'मुख्य शत्रु जबकि अपने अन्दर ही हो तो विरोध का लक्ष्य स्वभावतः वहीं होगा और चूँकि यह जाति-व्यवस्था धार्मिक विधि-विधानों के रूप में ही समाज का नियमन करती रही है, इसलिए दलित जातियों का असंतोष और आक्रोश भी प्रायः धर्म के ही रूप में प्रकट होता रहा हैं।' संभवतया इसी कारण कबीर के लिए शोषणमूलक राजसत्ता का विरोध उतना महत्व नहीं रखता जितना कि जाति-व्यवस्था और धर्म के ठेकेदारों का।

कबीर की रहस्यवादी वाणियों की व्याख्या नामवर सिंह 'लोक धर्म' के अंग के रूप में करते हैं। 'लोक धर्म' साधारण जनों के विद्रोही की विचारधारा है। सामान्य जनों के

प्रचलित विचार अपेक्षाकृत सरल और अल्प संघटित होते हैं, अक्सर वे परस्पर-विरोधी और उलझे हुए भी होते हैं और उनमें लोकवार्ताओं, मिथकों और रोजमर्रा के लोक प्रचलित अनुभवों का पंचमेल होता है। फिर भी उन विचारों का महत्व बहुत है क्योंकि व्यापक जनान्दोलन के लिए यही कारगर होते हैं। कबीर काव्य के रहस्यवादी अंशों को नामवर सिंह इसी रूप में देखते हैं। इसलिए उनके मतानुसार संतों के तथाकथित 'रहस्यवाद' की तात्त्विक दृष्टि से लोक विरोधी और बुद्धि विरोधी होने के कारण एक गलत विचारधारा हो सकती है, किन्तु जरूरी नहीं कि किसी निश्चित ऐतिहासिक संदर्भ में भी उसकी वही लोकविरोधी भूमिका हो। यह तथ्य है कि मध्ययुगीन सामन्ती-पुरोहिती उत्पीड़न के वातावरण में विभिन्न देशों के रहस्यवादी संतों ने विद्रोह का झण्डा बुलंद किया और इस तरह के अधिकांश विद्रोही संत तत्त्वतः रहस्यवादी थे। इसलिए हिंदी के योगियों और संतों के रहस्यवाद का मूल्यांकन भी इसी ऐतिहासिक दृष्टि से समीचीन है। यह सत्य है कि रहस्यवादी कहे जाने वाले संत वस्तुतः अनुभववादी और विवेकवादी ठहरते हैं। इसी अनुभववाद और विवेकवाद के अस्त्र से उन्होंने जाति-पाँति, छुआ-छूत और ऊँच-नीच के भेदभाव पर चोट की थी।

प्रगतिवादी आलोचकों में गजानन माधव मुक्तिबोध निर्गुण और सगुण भक्तों की तुलना करते हुए कहते हैं कि कबीर आदि निर्गुण संत सगुणवादी तुलसी आदि भक्तों की तुलना में अधिक प्रगतिशील लगते हैं। 'साधारण जनों के लिए कबीर का सदाचारवाद तुलसी के संदेश से अधिक क्रान्तिकारी था।' मुक्तिबोध के अनुसार, मानवता की श्रेष्ठ भूमि के सन्धान मे भक्ति आन्दोलन जिस निर्गुण मतवाद के साथ आरंभ हुआ, उसमें शोषित जनता का हाथ था। इस 'मनुष्य-सत्य' के सर्वाधिक क्रान्तिकारी अभिप्राय कबीर में प्रकट हुए। कुरीतियों, धार्मिक अन्धविश्वासों और जातिवाद के विरुद्ध कबीर ने आवाज उठाई। निम्न जातियों में आत्म विश्वास पैदा हुआ। दार्शनिक क्षेत्र का निर्गुण मत जब व्यावहारिक रूप से ज्ञानमार्गी भक्तिमार्ग बना तो उसमें पुराण-मतवाद को स्थान नहीं था किन्तु निर्गुण भक्तिमार्गी जातिवाद-विरोधी आन्दोलन सफल नहीं हो सका। इसके पीछे मुक्तिबोध यह कारण बताते हैं कि निर्गुणवाद से संघर्ष करने वाले सगुण मत का उत्थान हुआ और उसने कबीर द्वारा निनादित क्रान्तिकारी स्वर को मद्धिम कर अन्ततः समाप्त कर दिया। हालाँकि मुक्तिबोध की भक्ति आन्दोलन के पतन का कारण बताने वाली इस व्याख्या से कई विद्वान सहमत नहीं हैं।

15.11 दलित विमर्श और कबीर

हिंदी साहित्य में दलित चेतना के उदय के साथ कबीर का दलितवादी विचार से अध्ययन प्रारंभ हुआ। दलित लेखन ने कबीर को अपने आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया तो इसके पीछे दो वजहें प्रमुख हैं : एक तो वर्णाश्रम और जातिवादी-व्यवस्था के खिलाफ कबीर का प्रबल विद्रोही तेवर और दूसरे उनका स्वयं समाज के निचले तबके से संबद्ध होना। मान्य मत है कि कबीर जुलाहा थे। इससे उनकी क्रान्तिकारी-विद्रोही कविता में 'अनुभूति की प्रामाणिकता' सहज उपस्थित है, जिसे 'अस्मितावादी' 'स्वानुभूति' कहते हैं। अकारण नहीं कि कबीर दलित जातियों में सर्वाधिक लोकप्रिय हैं।

कबीर के आलोचकों ने भारतीय समाज की जातिवादी व्यवस्था पर उनके प्रहारों को बार-बार रेखांकित किया है। कबीर का विद्रोह थोथी बातों तक सीमित नहीं है, यह आत्मानुभूत सत्य के आलोक में परिवर्तन की बेचैनी है। समाज के जिस तबके से कबीर का संबंध था वह किसी भी रूप में समादृत नहीं था। ऐसे वंचित, विपन्न कुल में पैदा हुए व्यक्ति के लिए कल्पित ऊँच-नीच की भावना और जाति-व्यवस्था का फौलादी ढाँचा तर्क और बहस की वस्तु नहीं होती, जीवन-मरण का प्रश्न होता है। कबीर की अक्खड़ता इसी के

परिणाम है। उनमें अपनी जाति को लेकर कोई हीनता-बोध नहीं है, बल्कि वे दम ठोंक कर कहते हैं 'तू बांमन हौं कासी का जुलाहा।' आज का दलित चिन्तन उनसे आत्मविश्वास पाता है तो यह स्वाभाविक ही है।

दलितवादी दृष्टि से कबीर पर विचार करने वालों में धर्मवीर जी प्रमुख माने जाते हैं। कबीर की देन को दलितवादी दृष्टि से व्याख्यायित करते हुए वे कहते हैं : 'दलित विश्व-सभ्यता में अपना विशेष योगदान करता चाहता है। ....कबीर के रूप में यह दलित योगदान महानता की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ है।' कबीर-साहित्य के धार्मिक होने के संदर्भ में उनका कहना – 'धर्म से सारा जीवन प्रभावित होता है। साहित्य इस प्रभाव से बच नहीं सकता। कबीर के धर्म और कबीर के साहित्य के संबंध को इसी रूप में समझा जाना चाहिए।' सचाई है कि मध्यकाल में वर्णाश्रम और जाति-व्यवस्था को आवरण धर्म का ही प्राप्त था, अतएव इस पर प्रहार के लिए अनिवार्य था धर्म का अनुशीलन। कबीर विभिन्न धर्मों संप्रदायों के पास इसी के लिए जाते हैं और बाहरी पाखण्डों की निस्सारता प्रतिपादित कर मानव समता की भाव-भूमि तलाशते हैं। ''उनकी भक्ति समाज-सुधार की प्रक्रिया को पूरा करने का साधन और माध्यम है।'' कबीर का धर्म-सुधार उनके समाज-सुधार से भिन्न नहीं हैं : 'कबीर जैसे किसी भी दलित जाति के महापुरुष की सबसे पहली समस्या सामाजिक होती है। वह अपना मिशन समाज-सुधार से ही आरंभ करता है।'

कबीर काव्य की भाषायी शक्ति को धर्मवीर अचूक मानते हैं। कबीर की भाषा का अर्थ इतना स्पष्ट है कि बोलते ही लोग उन्हें मारने दौड़ते हैं – 'संतों, बोले ते जग मारे।' कबीर की अटपटी वाणी समाज के भीतर व्याप्त अन्तर्विरोधों और विसंगतियों को अभिव्यक्त करती है। कबीर स्पष्ट शब्दों में कहते हैं – 'दुन्दुर राजा टीका बैठे', 'बैल करै पटवारी', 'विषहर करै, खवासी', 'बिल्ली घर में दासी' और 'भैंसे न्याय निबेरी।' धर्मवीर जी कबीर काव्य को अन्योक्ति नहीं मानते और उन्हें रहस्यवादी कहने के सख्त विरोधी हैं। कबीर की भाषा को दुरूह कहने वाले लोगों पर वे कटाक्ष करते हैं कि 'जिसका जन-विरोधी संस्कृत भाषा से घोषित विरोध रहा हो, वह साहित्य विद्वानों के लिए दुर्बोध हो गया है, इसका मतलब यह भी हो सकता है कि ये विद्वान जनवाणी से कटे हुए हैं। यह अजीब कहानी है कि विद्वान लोग एक अनपढ़ कहे जाने वाले व्यक्ति की भाषा नहीं समझते।'

धर्मवीर जी के अनुसार 'वास्तव में कबीर भक्त और समाज सुधारक के छोटे व्यक्तित्व न होकर सामाजिक क्रान्ति के महान नेता थे। उन्हें हिंदू धर्म के सुधरने से कोई मतलब नहीं रह गया था जब उन्होंने अपने दलित समाज के लिए एक अलग धर्म दे दिया था।' इस तरह धर्मवीर कबीर को पृथक दलित धर्म के संस्थापक के रूप में देखते हैं। उन्होंने लिखा है – ''कबीर के 'न हिंदू न मुसलमान' कहने का मतलब यही था कि वे पृथक दलित धर्म के हिमायती और संस्थापक थे। लेकिन अकबर के रूप में एक बादशाह ने 'दीन-ए-इलाही'' का धर्म खड़ा करके उस धर्म को हड़पना चाहा जो अन्त में सिक्ख धर्म के द्वारा निगल लिया गया। इतिहास की यह उनकी अपनी व्याख्या है जिसे वे 'दलितवादी व्याख्या' कहते हैं। उनके लिहाज से हर कौम का इतिहास पढ़ने का अपना तरीका अलग होता है।'' इतिहास को समझने में सार्वभौमिकता नहीं होती। धर्मवीर यह भी कहते हैं कि कबीर के आलोचक को स्वयं जुलाहा होना चाहिए। उनके मत में कबीर जुलाहा थे जबकि उनके अधिकतर आलोचक ब्राह्मण अथवा ब्राह्मणवाद के पक्ष-पोषक। कबीर संबंधी विभिन्न अनुश्रुतियों को भी वे 'ब्राह्मणवादी साजिश' मानते हैं। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण होने के कारण रामानन्द को कबीर अपना गुरु स्वीकार नहीं कर सकते थे। इस प्रकार अपने आग्रहों के अनुरूप कबीर के संदर्भ में दलित-चिन्तन कुछ नए विमर्श खड़ा करता है।

15.12 काव्य-कला

कबीर के आलोचकों ने प्रायः उन्हें भक्त के रूप में देखा है और कविता को उनकी भक्ति के 'उपजा' के रूप में। किन्तु विद्वानों ने कबीर की काव्य-कला का मूल्यांकन भी यत्र-तत्र प्रस्तुत किया है। 'कबीर ग्रंथावली' के सम्पादक श्याम सुन्दर दास कबीर को श्रेष्ठ रहस्यवादी कवि कहते हैं, जिन्होंने कविता के लिए कविता नहीं की। दास जी कहते हैं – 'दूर की सूझ जिस अर्थ में केशव, बिहारी आदि कवियों में मिलती है, उस अर्थ में उनमें (कबीर में) पाना असंभव है। प्रयत्न उनकी कविता में कहीं नहीं दिखाई देता। अर्थ की जटिलता लिए उनकी उलटबाँसियाँ केशव की शब्दमाया को मात करती हैं ; परंतु उनमें भी प्रयत्न दृष्टिगत नहीं होता।' दास जी की दृष्टि में कविता के परम्परागत प्रतिमानों में कबीर को बाँधना संभव नहीं है, क्योंकि कबीर ने इनकी परवाह नहीं की है। वे पढ़े-लिखे नहीं थे इसलिए छंदशास्त्र, अलंकार आदि से अनभिज्ञ थे। कबीर अपनी उक्तियों पर बाहर से अलंकार का मुलम्मा नहीं चढ़ाते और जो अलंकार उनमें मिलते हैं, उन्हें वे खोज कर नहीं बिठाते। इसी तरह छन्दों में मात्राओं की परवाह भी वे नहीं करते।

दास जी कबीर की भाषा को 'खिचड़ी' कहते हैं। उनके मतानुसार कबीर की भाषा का निर्णय करना 'टेढ़ी खीर' है, क्योंकि उसमें ब्रजभाषा, खड़ीबोली, अवधी, राजस्थानी, पंजाबी, फारसी, मैथिली, बँगला सभी के तत्व समाए हुए हैं। इसके साथ ही दास जी कबीर काव्य के संदर्भ में कुछ खटकने वाली बातों का उल्लेख भी करते हैं, यथा – दोहराव, ज्ञान की शुष्कता, दार्शनिकता, साहित्यिकता का अभाव, अपरिमार्जित भाषा आदि।

कबीर के सबसे महत्वपूर्ण आलोचक हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर को मूलतः धर्मगुरु मानते हैं। द्विवेदी जी के अनुसार, कबीर की कविताई भी उनके अखण्ड भक्त–व्यक्तित्व का 'बाई-प्रोडक्ट' है तथापि वे यह भी लिखते हैं कि 'कबीर की आध्यात्मिक रस की गगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी में भी कम रस इकट्ठा नहीं हुआ है।' कबीर ने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके अपनी बातें नहीं कहीं। उनकी छन्दयोजना, उक्ति वैचित्र्य और अलंकार-विधान पूर्णतः स्वाभाविक और अयत्नसाधिक है। काव्यगत रूढ़ियों के न तो वे जानकार थे, न कायल। किन्तु रूप के द्वारा अरूप की व्यंजना, कथन के जरिए अकथ्य का ध्वनन यदि काव्य शक्ति का चरण निदर्शन है तो कबीर में यह शक्ति बहुतायत है। निगूढ़ अनुभवगम्य तथ्यों के लिए उन्हें भाषा के द्वारा रूप खड़ा करना पड़ा है और अरूप को रूप के द्वारा अभिव्यक्त करने की साधना करनी पड़ी है। काव्य–शास्त्र के आचार्य इसे ही कवि की सबसे बड़ी शक्ति बताते हैं। फिर भी कबीर के यहाँ वह ध्वनित वस्तु ही प्रधान है; ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं। इस प्रकार उनका काव्यत्व उनके पदों में 'फोकट का माल' है; वह कोलतार और सीरे की भाँति और चीजों को बनाते-बनाते अपने आप बन गया है।

द्विवेदी जी की दृष्टि में व्यंग्य और चुटकी लेने वालों में कबीर अद्वितीय है। 'उनकी साफ चोट करनेवाली भाषा बिना कहे भी कुछ कह देने वाली शैली और अत्यंत सादी किन्तु अत्यंत तेज प्रकाशन-भंगी अनन्य साधारण है।' बाह्याचार पर आक्रमण करने वाले संतों ओर योगियों की कमी नहीं रही है, पर इस कदर सहज और सरस ढंग से चकनाचूर करने वाली भाषा कबीर के पहले बहुत कम दिखाई दी है। इसलिए द्विवेदी जी कबीर की व्यंग्यधर्मिता को रेखांकित कर कहते हैं कि 'आज तक हिंदी में ऐसा जबरदस्त व्यंग्य लेखक पैदा ही नहीं हुआ।' उनके शब्दों में, 'व्यंग्य वह है, जहाँ कहने वाला अधरोष्ठों मे हँस रहा हो और सुनने वाला तिलमिला उठा हो और फिर भी कहने वाले को जवाब देना

अपने को और भी उपहासास्पद बना लेना हो जाता हो।' कबीरदास ऐसे ही व्यंग्यकर्त्ता थे।

कबीर की जिस भाषा को श्याम सुन्दर दास ने 'खिचड़ी' और 'टेढ़ी खीर' कहा है उसे द्विवेदी जी ज्यादा साफ और जोरदार संभावनाशील भाषा कहते हैं। कबीर ने शास्त्रीय भाषा का अध्ययन नहीं किया था, पर फिर भी उनकी भाषा में परम्परा से चली आई विशेषताएँ विद्यमान हैं। भाषा पर कबीर के जबरदस्त अधिकार को लक्ष्य कर द्विवेदी जी लिखते हैं : 'वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप मे प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया-बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है।'

माता प्रसाद गुप्त कबीर की काव्य-कला के संदर्भ में टिप्पणी करते हैं कि 'उनके काव्य की सरसता का सबसे उत्कृष्ट रूप हमें उनके उन उद्गारों में मिलता है जो उपास्य के विरह में व्यक्त किए गए हैं। प्रिय से विरह की जैसी अभिव्यक्ति कबीर में हुई है, लौकिक विवरण काव्यों तक में भी कम ही है।' कबीर की रचनाओं में साहित्यिकता के अभाव का आरोप लगाने वाले आलोचकों को लक्ष्य कर गुप्त जी कहते हैं : 'यदि इन समालोचकों का कविता से तात्पर्य अलंकार, ध्वनि, रीति, रस, वक्रोक्ति आदि की सचेष्ट योजना से हो ....तो भले ही उनका कथन मान्य हो सकता है, किन्तु यदि कविता विचारों और भावनाओं की प्रभावपूर्ण और सरस अभिव्यक्ति मात्र है तो कबीर में कविता की कमी नहीं है।'

कबीर की रचनाएँ लोक-मानस में रची-बसी हैं। भजन के लोक-गायकों ने ही कबीर वाणी को नहीं गाया है, बल्कि उनका काव्य शास्त्रीय संगीत का भी भारी खजाना है। संकलनों में उनके पदों को विभिन्न रागों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाना इसका प्रमाण है। आधुनिक काल में भी अनेक शास्त्रीय गायकों ने कबीर के पदों को अपना स्वर दिया है जिसमें कुमार गंधर्व से लेकर पं. जसराज तक शामिल हैं। कबीर को लेकर फिल्में भी बनी हैं। इस संदर्भ में शबनम बिरमानी का नाम उल्लेखनीय है। चित्रकार-शिल्पकार भी कबीर से प्रेरित होते रहे हैं। इस तरह कबीर संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में सर्जनात्मक प्रेरणा का स्रोत रहे हैं।

15.13 सारांश

- कबीर हिंदी साहित्य के आदि कवियों में से हैं, जिनकी स्मृति हिंदी समाज के लोक-मानस में सुरक्षित है। उनसे संबंधित अनेक दन्तकथाएँ समाज में प्रचलित हैं।
- कबीर के व्यक्तित्व और कृतित्व पर उनके समकालीन एवं परवर्ती भक्तों ने टिप्पणियाँ की हैं तथा उनका स्मरण श्रद्धापूर्वक किया है। इनमें अनन्तदास और नाभादास प्रमुख हैं।
- मध्यकालीन इतिहास लेखकों से लेकर आधुनिक इतिहासकारों तक ने कबीर के ऐतिहासिक व्यक्तित्व की पड़ताल की है।
- कबीर की लोकप्रियता के कारण औपनिवेशिक दौर के विदेशी विचारकों ने अपने आग्रहों एवं सरोकारों के अनुसार कबीर का अध्ययन किया है।
- हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने कबीर और उनके काव्य की विवेचना की है।
- कबीर वाणी के प्रामाणिक पाठ का संकलन करने वाले विद्वानों ने भी उनके संदर्भ में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं।

- हिंदी आलोचकों के बीच कबीर सर्वाधिक लोकप्रिय रहे हैं। कई आलोचकों ने उन पर पाण्डित्यपूर्ण और अनुसंधान परक पुस्तकें लिखी हैं। इनमें सर्वाधिक जोर उनके भक्त व्यक्तित्व एवं समाज सुधारक चरित्र पर रहा है।
- कबीर के नाम पर आगे एक पंथ भी स्थापित हुआ, जिसका प्रसार पूरे उत्तर भारत में दिखता है।
- प्रगतिवादी आलोचना ने कबीर के समाज दर्शन पर सर्वाधिक बल दिया है और आज के संदर्भ में उनकी प्रासंगिकता को रेखांकित किया है। कबीर की कविता को जीवन जगत से पराङ्मुख रहस्यवादी कहने का प्रबल विरोध यहाँ मिलता है।
- दलित विमर्श ने वर्णाश्रम और जाति-व्यवस्था पर कबीर के प्रामाणिक अनुभूत प्रहारों के कारण अपने आदर्श प्रतीक के रूप में पहचाना है।
- कबीर और रामानन्द के बीच संबंधों को लेकर आलोचकों के बीच विवाद चला है।
- आलोचकों ने कबीर की काव्य-कला पर विचार करते हुए उसे जीवन से उद्‌गत कविता कहा है, जिसमें शास्त्रीय कलात्मकता की उपेक्षा हुई है।

15.14 अभ्यास प्रश्न

1. कबीर की जीवनी के निर्धारक स्रोतों का परीक्षण करते हुए उनके ऐतिहासक व्यक्तित्व की पड़ताल कीजिए।
2. कबीर काव्य के स्रोतों की प्रामाणिकता का परीक्षण प्रस्तुत कीजिए।
3. हिंदी आलोचना में कबीर की बदलती हुई छवि की विवेचना करते हुए उनसे संबंधित महत्वपूर्ण विवादों पर प्रकाश डालिए।
4. कबीर के व्यक्तित्व और कृतित्व की एक सम्यक आलोचना प्रस्तुत करते हुए अपने विचार प्रतिपादित कीजिए।
5. कबीर के कवि-व्यक्तित्व एवं उनकी काव्य-कला संबंधी विभिन्न विद्वानों के मतों का मूल्यांकन करते हुए अपनी राय प्रस्तुत कीजिए।

15.15 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. कबीर-हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
2. हिंदी काव्य की निर्गुण-धारा-पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली
3. उत्तरी भारत की संत परंपरा-परशुराम चतुर्वेदी, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद
4. कबीर और कबीर-पंथ-केदारनाथ द्विवेदी, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

इकाई 16 कबीर की कविताओं का विश्लेषण

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 कबीर की कविता के संदर्भ में कुछ प्रमुख बिन्दु

16.3 कबीर की कविताओं का विश्लेषण

16.4 सारांश

16.5 अभ्यास प्रश्न

16.0 उद्देश्य

यह इकाई कबीर की कुछ चुनी हुई साखियों और पदों के विश्लेषण पर आधारित है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- कबीर के काव्य का अध्ययन करते समय कुछ ध्यान योग्य बिन्दुओं का संदर्भ दे सकेंगे;
- कबीर की कविताओं के विश्लेषण के मुख्य आधारों को समझा सकेंगे; और
- कबीर के काव्य में निहित दर्शन और जीवन दृष्टि का परिचय दे सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

कबीर की कविता में लोकमंगल की चिन्ता प्रधान रूप से दृष्टिगत होती है। उनकी कविताओं में जीवन से संबद्ध सहज विचार, अनुभव और चिन्तन की अभिव्यक्ति है। कबीर ने दोहा छंद में अनेक साखियाँ लिखी हैं। इनमें वे अपने अनुभव और निरीक्षण को बयान करते हैं। इन साखियों में कबीर अपने श्रोताओं को सम्बोधित करते हैं इस कारण इनमें सहज बोधगम्यता है। कबीर 'लिखते' नहीं अपितु 'कहते' हैं इससे एक संवादात्मकता स्वतः रचना में आ जाती है। हालाँकि कबीर का अध्ययन करने पर यह बिन्दु स्वतः दिखाई देता है कि उनमें सुनने का भाव नहीं है। उन्हें कहीं से या किसी से कुछ जानना नहीं है। वे तो जान चुके है। किसी न किसी निष्कर्ष पर पहुँच चुके हैं। इस निष्कर्ष से उनके कथन में दृढ़ता और आत्मविश्वास स्वतः आ जाता है। ओजस्विता के इस गुण के कारण सामान्य तथ्य कथन में बहुत प्रभावशाली लगने लगते हैं। वे सुनी-सुनाई बातों का नीरस पुनर्कथन नहीं करते। जो बात कहते हैं उसका उन्होंने अनुभव किया है; देखा है, समझा है और तब अंततः वे अपना साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। इस इकाई में हमने कबीर की कविताओं का भाव-विश्लेषण प्रस्तुत किया है। पाठ्यक्रम की इकाई-11 में कबीर काव्य की पारिभाषिक शब्दावली से सहायता लेकर आप कबीर की कविता की दार्शनिक व्याख्या कर सकते हैं।

16.2 कबीर की कविता के संदर्भ में कुछ प्रमुख बिन्दु

कबीर की कविताओं का विश्लेषण करते समय कुछ प्रमुख बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है;

- कबीर मध्यकालीन भक्त कवि थे और निर्गुणभक्ति धारा से संबद्ध थे।
- कबीर के लेखन की परंपरा नाथों और सिद्धों से मिलती है, विशेष रूप से सरहपा की रचनाओं की छाया कबीर में दृष्टिगत होती है।
- कबीर अपनी कविताओं में न तो वर्णन करते हैं न विवरण देते हैं वरन् वे समझाने के लिए अपनी बात करते हैं। उनके इन समझाने की प्रक्रिया में एक ज्ञानी है और दूसरा अज्ञानी। इस प्रकार उनकी रचनाओं में या तो उपदेशात्मकता के दर्शन होते हैं या गहनता दिखाई देती है।
- कबीर की कविताओं में निहित व्यंग्य की विशेषता है कि यह व्यंग्य कबीर द्वारा समझाने की प्रक्रिया का ही एक बिन्दु है।
- वे कुछ प्रश्नों को खुला छोड़ देते हैं और इनके माध्यम से व्यक्ति को चिंतन-मनन के लिए प्रेरित करते हैं। इस प्रक्रिया में कुछ स्थानों पर वे ऐसे तर्क देते हैं कि जो उनके निहितार्थ को प्रकट करते हैं लेकिन उन प्रश्नों का कोई सीधा-सीधा उत्तर नहीं मिलता।
- कबीर कई बार अपने समानधर्मा व्यक्ति के साथ अपना अनुभव साझा करते हैं। उनका यह अनुभव आध्यात्मिक अनुभव है। अपने इन अनुभवों को वे लौकिक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते चलते हैं।
- किसी अन्य को समझाने वाली इस तरह की कला की विशेषता यह होती है कि इसकी शैली में कोई स्पष्ट कथन नहीं होता। अभिधात्मकता नहीं होती।
- कबीर यह भलीभाँति जानते हैं कि उन्हें क्या कहना है, कहाँ चोट करनी है और कितना कहना है, इसलिए सीधे-सीधे वे अपनी बात कहते हैं।
- कबीर ने मुक्तक रचनाएँ लिखी हैं। मुक्तक रचनाओं का लेखक कोई भूमिका नहीं बाँध सकता। उसे कुछ पंक्तियों में अपनी बात व्यक्त करनी होती है। अतः स्पष्टता, संक्षिप्तता और सार तत्व ऐसी रचनाओं की विशेषता होती है।

16.3 कबीर की कविताओं का विश्लेषण

1. कबीर तन पंषी भया, जहाँ मन तहाँ उड़ि जाइ।
   जो जैसी संगति करे, सो तैसे फल खाइ।।

सरलार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि यह तन पक्षी की तरह स्वतंत्र हो गया है अतः जहाँ भी मन करे वहाँ उड़कर चला जाता है। जिसकी जैसी संगति होगी, वो वैसे ही फल चखेगा। अर्थात अच्छी संगति में जाएगा तो भला होगा। बुरी संगति में जाएगा तो बुरा होगा।

कबीर इस दोहे में तन और मन दोनों के ही बन्धनमुक्त होने पर उन्हें विवेकानुसार कार्य करने की बात कहते हैं। यहाँ वे तन अर्थात शरीर की तुलना पक्षी से करते हैं। हमारा मन निर्द्वंद्व रूप से बिना किसी रोक टोक कहीं आ या जा सकता है, विचरण कर सकता है। मन का कोई बन्धन या सीमा नहीं है। परन्तु मानव शरीर एक बंधन में बँधा है। उसमें यह शक्ति नहीं है कि जहाँ भी मन चाहे वह भी सशरीर वहीं पहुँच जाए।

अब कबीर तन को मन के समान ही मुक्त करने की कल्पना करते हैं। वे मानव शरीर की तुलना एक पक्षी से करते है। पक्षी के पास पंख हैं जिनकी सहायता से जहाँ भी उसका

मन चाहे वह जा सकता है, जिस किसी से उसका मन करे वह मिल सकता है, निर्द्वन्द्व रूप से कहीं भी, कभी भी विचरण कर सकता है। अपने मन के अनुसार अपने मार्ग का चयन कर सकता है। उसी प्रकार मनुष्य का शरीर भी पक्षी की तरह बन जाए और वह निर्द्वन्द्व रूप से कहीं भी विचरण करने में सक्षम हो जाए तो उसके समक्ष यह भी विकल्प रहता है कि वह किस तरह की संगति को अपनाए। अब यहाँ कबीर एक सामान्य सी बात कहते हुए व्यक्ति को चेताते हैं उसे आगाह करते हैं, सही गलत के भेद का विवेक होने की बात कहते हैं। उनका मानना है कि मानव तन के पक्षी की भांति ही निर्द्वन्द्व रूप से विचरण करने की स्थिति में अथवा ऐसी स्वतंत्रता मिलने पर भी मनुष्य को अपने विवेक का सही प्रयोग करना होगा। अगर वह अपने मन के वशीभूत होकर सही संगति में विचरण करेगा तो उसे सच्चे ज्ञान तथा सही मार्ग की प्राप्ति होगी और यदि वह गलत संगति में विचरण करेगा तो वह अज्ञानी, माया मोह से ग्रस्त हो जाएगा। सही मार्ग का अनुसरण नहीं करेगा। अर्थात मनुष्य जिस संगति में रहेगा उससे उसका जीवन अवश्य प्रभावित होगा। अतः कबीर यहाँ मनुष्य को चेताते हुए कह रहे हैं कि विवेकानुसार ही अपनी संगति तय करे। मन के वशीभूत होकर गलत संगति का चयन करने से उसकी हानि होगी, भला नहीं होगा क्योंकि जिसकी जैसी संगति होती है उसे वैसा ही फल मिलता है।

यहाँ ध्यान देने की बात यह भी है कि केवल कबीर का कथन ही महत्वपूर्ण नहीं है। यहाँ कल्पना की ऊँची उड़ान है। तन की पक्षी के रूप में कल्पना की गई है और यह कबीर की मौलिकता है। कबीर का अप्रस्तुत विधान भी बहुत कलात्मक और मौलिक है। उनके द्वारा की गई अभिव्यक्ति ही नहीं अपितु कथन भंगिमा भी महत्वपूर्ण है।

2. हाड़ जलै ज्यूँ लाकड़ी, केस जलैं ज्यूँ घास।
   सब तन जलता देखि कर, भया कबीर उदास।।

सरलार्थ : मृत्यु के बाद शरीर का अंतिम संस्कार किया जाता है। इस संस्कार में शरीर (हाड़) लकड़ी की भाँति जल जाता है और केश घास की भाँति जल जाते हैं। इस तरह से तन को जलता देख कबीर उदास हो गए हैं, दुखी हो गए हैं।

इस दोहे में कबीर ने श्मशान घाट का एक चित्र प्रस्तुत किया है। हिन्दुओं में मृत शरीर को जलाने की परम्परा है। जलते हुए इस मानव शरीर को देखकर कबीर सोचते हैं। चिन्तन करते हुए उनके मन में बिम्ब उभरता है। पहले वे इस बिम्ब को रचते हैं। बिम्ब अत्यंत साधारण है। मनुष्य की हड्डियाँ लकड़ी की तरह जल रही हैं। इस तरह सारे शरीर को अग्नि में जलते हुए कबीर देख रहे हैं। यह देखना भी अपने आप में अलग अनुभूति है। संसार की इस नश्वरता और अंत को देखकर कबीर उदास हो गए हैं। वस्तुतः यह एक सामान्य क्रिया है। मनुष्य की मृत्यु होती है। मृत्यु के उपरान्त उसके शरीर को जला दिया जाता है। मृत्योपरांत होने वाली यह क्रिया सामान्य है। इसमें उदास होने वाली कोई विशेष बात नहीं है। फिर कबीर उदास क्यों हो गए हैं ? कबीर ने यह प्रश्न नहीं पूछा है, लेकिन जिस तरह से इस तथ्य का वर्णन किया गया है उसमें पाठक के मन में सहज ही यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है।

दरअसल लकड़ी तो जीवनहीन होती है। सूखी हुई होती है और वह तो जलाने के ही काम में आती है। लकड़ी का जलना कोई संवेदना उत्पन्न नहीं करता। इसी तरह सूखी घास को जलने से भी हमें कुछ महसूस नहीं होता, परन्तु मनुष्य की हड्डियाँ तो मनुष्य के शरीर का अंग होती हैं। उसमें जीवन होता है। उस पर चोट लगने-जलने से दर्द होता है। परन्तु जब जीवन समाप्त हो जाता है तब शरीर तथा उसमें अवस्थित हड्डियों की स्थिति भी लकड़ी की ही भाँति हो जाती है। उनके जलने पर भी आश्चर्य। परन्तु केश और हड्डियाँ

हमें स्मरण कराती है कि इनमें जीवन था। इस शरीर से जुड़ा हुआ अहंकार था। कबीर अभी जीवन के उस पक्ष पर कुछ नहीं कहते। जीवन की क्षणभंगुरता से अलग उदासी का उल्लेख करके उदास हो जाते हैं। यह श्मशान वैराग्य है। यहाँ आकर सभी को होता है। कुछ दिनों के उपरांत दैनिक जीवनचर्या में इस क्षणभंगुरता के अनुभव को शेष लोग भूल जाते हैं। लेकिन कबीर को यह उद्वेलित करता रहता है। उन्हें याद रहता है। देखा और भूल गए यह कबीर नहीं हैं। देखा तो उसे सम्पूर्ण जीवन दृष्टि के भीतर समझा और याद रखा। सारे मानसिक उद्वेलन के बाद जब चित्त स्थिर होता है तब कबीर साखी कहते हैं। इसलिए इन पंक्तियों में आक्रोश, उद्वेलन, बैचेनी कहीं भी नहीं है। यहाँ उपदेश देने की सम्भावना है-कबीर अपने आपको इन सबसे बचाते हैं और यही इन पंक्तियों का सौन्दर्य है। कभी-कभी कुछ न कहना अधिक कहना हो जाता है- और यही इन पंक्तियों का सौन्दर्य है। यह सौन्दर्य साम्य से प्रारम्भ हो जाता है जब हड्डियों का साम्य लकड़ी से और केश की साम्य घास से करते हैं और जलने के क्रम में - जीवन के अन्त में दोनों समान हो जाते हैं। इस तुलना से शरीर के अंगों का महत्व, जीवित मनुष्य का महत्व कम हो जाता है। कबीर जान बूझकर उसे कम करके दिखाते हैं। तन के महत्व को कम करके दिखाना कबीर के चिन्तन का प्रस्थान बिन्दु है। वे बार-बार यह बिम्ब लाते हैं। जो लोग अपने शरीर को, अपने आपको बहुत महत्व देते हैं कबीर उनके अहंकार को तुच्छ साबित करने के लिए यह तुलना करते हैं। यहाँ कबीर मानव मात्र को साधारण जीवन ज्ञान देते हुए चेताते हैं

3. माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया सरीर।
   आसा त्रिष्णाँ नाँ मुई, यौं कह गया कबीर।।

सरलार्थ : कबीर मानते हैं कि शरीर की मृत्यु होती है परन्तु न तो माया मरती है और न मनुष्य का मन मरता है। आशा और तृष्णा (लालसा) ये दोनों भी कभी नहीं मरतीं, ऐसा कबीर कह गये हैं।

यह कबीर का दार्शनिक दोहा है। कबीर मानते हैं कि शरीर की मृत्यु होती है, ये शरीर कभी अमर नहीं हो सकता। वे इस दर्शन को मानते हैं कि जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है। यहाँ कबीर जन्म-जन्मांतर के आवागमन का संकेत दे रहे हैं। हालाँकि इस साखी में माया के क्रियाकलापों को स्पष्ट नहीं किया गया है लेकिन यदि मन शांत नहीं होगा और आशा तथा तृष्णा में बद्ध रहेगा तो उनके वशीभूत होकर जन्म और मृत्यु के चक्र में बँधा रहेगा। अर्थात् यदि शरीर को मुक्ति पानी है तो मन को मारना होगा, नियंत्रित करना होगा। कबीर ने कई स्थानों पर 'माया' को मोहिनी, पापिनी, विसास (कपटी) आदि कहा है- 'हरि बिचि घालै अन्तरा, माया बड़ी बिसास।' यह माया कबीर के अनुसार इस जगत् में हमेशा विद्यमान रहती है। उसकी मृत्यु नहीं हो सकती। इसी प्रकार मनुष्य की आकांक्षाएँ और तृष्णाएँ भी कभी नष्ट नहीं होतीं। मनुष्य का मन कभी भी तृप्त नहीं होता। अधिक और अधिक पाने की इच्छा मनुष्य में कभी समाप्त नहीं होती। कबीर अपनी इस मान्यता को स्पष्ट रूप से नहीं कहते अपितु सिर्फ संकेत भर करके छोड़ देते हैं। यहाँ यह लालसा ऐन्द्रिक सुखों की कामना है।

यहाँ कबीर एक चेतावनी की तरह अपना वक्तव्य देते हैं। शरीर तो नाशवान है, आज है कल नहीं रहेगा। परन्तु इस संसार से मोह, आशा, लालच और मन की अशांति कभी नष्ट नहीं हो सकती। अतः मनुष्य को संत बनना है, ज्ञानी बनना है तो इस आशा और तृष्णा से ऊपर उठना चाहिए। ज्ञानी मन को शांत करने की ओर ध्यान देना चाहिए।

4. रोवणहारे भी मुए, मुए जलाँवणहार।
हा हा करते ते मुए, कासनि करौं पुकार।।

सरलार्थ : इस दोहे में कबीर मृत्यु की अनिवार्यता और भयावहता का वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं कि रोने वाले भी मृत्यु को प्राप्त हो गए और जलाने वाले अर्थात क्रियाकर्म करने वाले भी। वे मर गए अब किससे पुकार करें।

इस साखी में कबीर मृत्यु की सर्वव्यापकता का एक उदाहरण देते हैं। मध्यकालीन साहित्य में जरा और मरण का भय महत्वपूर्ण रूप से उपस्थित है। यहाँ कबीर जीवन की गति का वर्णन करते हैं। वे मृत्यु की भयावहता और अनिवार्यता को रेखांकित करते हैं। अपनी बात की पुष्टि के लिए वे एक दृश्य उपस्थित करते हैं। यह दृश्य किसी व्यक्ति की मृत्यु के बाद होने वाली घटनाओं और परिस्थितियों का है। समाज में जब भी किसी की मृत्यु होती है तब उसके चाहने वाले, स्वजन-परिजन उसकी मृत्यु पर रोते हैं। इस सदमे में व्यक्ति की मृत्यु से उत्पन्न हुई क्षति की गहन पीड़ा निहित दिखाई देती है। उस व्यक्ति को पुनः न देख पाने का दर्द दृष्टिगत होता है। यह रोना लोक व्यवहार भी है। इसके बाद रोने वालों से अलग कुछ लोग मृत शरीर को दाह संस्कार के लिए श्मशान ले जाते हैं और अंतिम क्रिया कर्म की प्रक्रिया संपन्न करते हैं। कबीर व्यक्ति के मृत्योपरांत उसके संबंधियों के रुदन को अज्ञान मानते हैं। जो व्यक्ति जन्मा है वह मृत्यु को प्राप्त होगा ही। मृत्यु अटल सत्य है। जब एक दिन सबको मरना है तब मृत्यु से दुख किस बात का ? मृत्यु तो अवश्यंभावी है। यदि मृत्यु-सत्य को मान लें तो दुःख नहीं होगा। दुःख नहीं होगा तो रोएँगे नहीं। इतनी सारी उधेड़ बुन के बाद कबीर कहते हैं कि जो किसी की मृत्यु पर रोने वाले थे वे भी एक दिन मृत्यु को प्राप्त हो गए। फिर जिस मृत का दाह संस्कार करने के लिए लोग आए थे वे भी एक दिन मर गए। जब सभी का अंत होना है तो किसे पुकारें। अर्थात् सब कुछ नश्वर है। मृत्यु अवश्यंभावी है। इस स्थिति में (बहुत) केवल ईश्वर ही रक्षा कर सकता है।

मध्यकाल की सम्पूर्ण कविता में और कबीर में जरा-मरण का भय व्याप्त था। कबीर अन्यत्र इसका जिक्र करते हैं। उस समय लोग उस उपाय को ढूँढना चाहते थे-प्रयास करते थे-तपस्या करते थे जिससे मृत्यु न हो। कुछ लोग इस मुगालते में भी रहते थे कि ऐसा सम्भव है। कुछ लोग तो अजर-अमर हो भी जाते होंगे। लेकिन वे कहाँ हैं? कबीर के समय में अमर करने वालों का व्यापार भी चल ही रहा होगा। इन सब परिस्थितियों के बीच कबीर ने कहा कि मृत्यु सरल है। अनेक साखियों में कबीर ने मृत्यु की अनिवार्यता को रेखांकित किया है। अब यदि आज मनुष्य यह मान ले कि मृत्यु अवश्यंभावी है तो जीवन को मानवीय तरीके से जी सकेगा। सत्कर्म करेगा, अपनी मुक्ति का उपाय करेगा, अहंकार नहीं करेगा, चोरी नहीं करेगा, धन-संचय नहीं करेगा और साथ ही साथ बहुत सारे ऐसे अकरणीय कार्य नहीं करेगा जो कर्म को खराब करें। अतः कबीर यह स्पष्ट रूप से कहते हैं कि मृत्यु को याद रखो। यह उपदेश नहीं है। यह स्थापना है। यह मान्यता है। कबीर सांकेतिक रूप से कहते हैं कि यदि मनुष्य मृत्यु की अवश्यंभाविकता को मान ले तो कम कष्ट होगा। नहीं मानेगा तो अधिक कष्ट होगा क्योंकि मृत्यु से बचना संभव ही नहीं है। जिसने जन्म लिया है उसका अंत भी होगा ही।

कबीर की कविताओं का विश्लेषण करने की प्रक्रिया में हम देखते हैं कि कबीर की साखियों का सीमित अर्थ नहीं होता। उसके आगे और पीछे अर्थ के अनेक स्तर होते है। कथन से पहले और कथन के बाद छूटे हुए अर्थ को समझे बिना हम साखी का सम्पूर्ण अर्थ समझ नहीं सकते। कबीर का मंतव्य मूल कथन की पृष्ठभूमि में रहता है। कथन तो उदाहरण है- जो लोक में घटित होता है। कबीर ने उस लोक व्यवहार को देखा और

दिखाया। परन्तु यह कबीर का उद्देश्य नहीं था। कबीर का कहने का मुख्य उद्देश्य कथन की पृष्ठभूमि में है। उसी से दोहे का अर्थ स्पष्ट होता है। इसलिए सरल सी प्रतीत होने वाली साखी में भी अर्थ गाम्भीर्य होता है। इस तरह छोटी-सी साखी दो स्तरों पर चलती है। एक स्तर सामान्य तथ्य कथन होता है। जिसमें कबीर का निरीक्षण होता है। इस निरीक्षण में समाज की कुछ छवियाँ निहित होती हैं। बिम्ब होता है। उस स्थिति में कबीर का अपना पक्ष भी होता है। यह पक्ष आम तौर से उस बिम्ब का विरोधी होता है। वे समर्थन में समाज का चित्रण नहीं करते अपितु विरोध में करते हैं। यह दोहा इसका उदाहरण है। कबीर अपने दर्शन को उचित ठहराने के लिए इस उदाहरण का उपयोग करते हैं। यदि साखी का पूरा अर्थ ग्रहण करना है तो इस दर्शन के भीतर ग्रहण करना होगा।

लेकिन आजकल हम कबीर के दर्शन से असहमत होकर भी उस जीवन-चित्रण के सौन्दर्य पर मुग्ध हो सकते हैं। भले ही जीवन उदाहरण के रूप में आया है, भले ही कबीर उस जीवन पर व्यंग्य कर रहे हैं- तब भी वह जीवन की छवि तो है ही और वह छवि अपने आपमें मूल्यवान भी है। कलात्मक भी है। सर्जनात्मक भी है। उसका अपना विशिष्ट महत्व भी है।

5. हरिया जाँणै रूँषड़ा, उस पाँणीं का नेह।
   सूका काठ न जाणइ, कबहू बूठा मेह।।

सरलार्थ : वर्षा के जल का स्नेह केवल हरा वृक्ष ही जान सकता है। सूखी काठ (वृक्ष) कभी भी वर्षा के स्नेह जल को जान नहीं सकता।

कबीर का यह दोहा एकदम सीधा-सहज और सरल है। पहली बार पढ़ने में साखी में कहीं भी आध्यात्मिकता दिखाई नहीं देती। सरल सा प्रकृति वर्णन है। कई बार ऐसा भी भ्रम हो सकता है कि यह कबीर की उक्ति है भी या नहीं। कविता की विशेषता यह होती है कि कवि प्रकृति को उस दृष्टि से देखता है, जिस दृष्टि से सामान्य मनुष्य देख नहीं पाता। सामान्य व्यक्ति की दृष्टि ही उस तथ्य पर नहीं पड़ती। हालाँकि तथ्य बहुत जाना-पहचाना होता है। कवि जब उस तथ्य का कथन करता है तब हम उसे नए ढंग से पुनः देखते हैं और कवि से सहमत होने लगते हैं। अपने दर्शन या विचार को स्थापित करने के लिए जब कवि या लेखक इन तथ्यों का प्रयोग करता है तब उस तथ्य कथन के साथ उसका दर्शन भी समाज स्वीकृत होता जाता है।

सब जानते हैं कि वर्षा का जल प्रकृति पर अपना स्नेह बरसाने के लिए आता है। उस स्नेह के कारण हम वर्षा का स्वागत करते हैं। इसी बरसात के कारण वनस्पतियाँ फलती-फूलती है। उनकी प्यास मिटती है। प्रकृति स्नेह के कारण बादल बरसते हैं। प्रकृति से बादल का रिश्ता स्नेह का है, प्रेम का है। लेकिन उस स्नेह की, उस प्रेम की कीमत क्या है ? इस प्रेम को पहचानना भी जरूरी है। जब बरसात होती है तब हरे भरे वृक्ष और भी हर्षित होकर झूमने लगते हैं। ऐसा लगता है कि उन्होंने बरसात के इस स्नेह को पहचान लिया है। अब हरे वृक्ष तो इस प्रेम के नेह को समझ गए हैं- लेकिन क्या सूखा काठ/सूखी लकड़ी उस नेह को महसूस कर पाती है। स्नेह से प्रफुल्लित हरा वृक्ष होता है, सूखी लकड़ी नहीं। कबीर उदाहरण स्वरूप यह समझाते हैं।

एक दाता है, दूसरा गृहीता है। दाता तो उदार है, सबको देता है बिना किसी भेदभाव के देता है, लेकिन ग्रहण कर्ता-गृहीता उसको कितना ग्रहण कर पाता है। कब ग्रहण पाता है। यह सोचने-विचारने की बात है। यदि संबोधन की दृष्टि से देखा जाए कवि पेड़ को कुछ नहीं कहते। वह तो है। वे पेड़ की लकड़ी को कहते हैं या सूखी लकड़ी को कहते हैं। यहाँ रूपक अलंकार के माध्यम से कबीर का मंतव्य आता है। व्यक्ति को जिसको

कबीर उपदेश देते हैं, अपना अनुभव साझा करते हैं- उसे स्वयं ही यह निर्णय करना है कि हरे वृक्ष जैसा संवेदनशील बने रहना है या सूखी लकड़ी जैसा मृत प्रायः रहना है। अपने भीतर प्रेम का भाव जिलाए रखना है- या उसे सुखा देना है।

अब यह कबीर का अकथनीय उपदेश है कि गुरु का ज्ञान भी सजग शिष्य को ही मिलता है। ईश्वर की कृपा भी प्रयत्नशील और सहृदय व्यक्ति को ही प्राप्त होती है। अर्थात् गुणहीन व्यक्ति पर उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता। उनमें ग्राह्यता नहीं होती। यदि व्यक्ति गुणवान है और सुपात्र है तभी उस पर उपदेश का प्रभाव पड़ेगा। उसमें ग्राह्यता होगी। इस साखी में 'बूठा' का अर्थ 'ऊपर' है। यहाँ कबीर अतः 'सूखा काठ न जाणइ, कबहू बूठा मेह' कहकर छोड़ देते हैं। आगे कुछ नहीं कहते। आगे व्यक्ति को अपने विवेक के अनुसार ही सोचना और सोचना और समझना है। अधूरे कथन का सौन्दर्य कबीर में ही मिलता है।

6. जब गुण कूँ गाहक मिलैं, तब गुण लाख बिकाइ।
   जब गुण कौं गाहक नहीं, तब कौड़ी बदले जाइ।।

सरलार्थ : जब गुण का महत्व समझने वाला (ज्ञानी) ग्राहक मिलता है तभी गुण का मूल्य समझ में आता है। वह लाखों में बिक जाता है। जब गुणवान को परखने वाला ग्राहक नहीं मिलता तो वह कौड़ी के मोल बिक जाता है।

कबीरदास आमतौर से अपनी वाणी में आध्यात्मिकता की चर्चा करते हैं। इस आध्यात्मिकता के लिए जहाँ उनको आवश्यकता प्रतीत होती है वहाँ लौकिक जीवन का संदर्भ दे देते हैं। इस संदर्भ के बावजूद उनका मूल कथ्य आध्यात्मिक ही होता है। यदि इस दोहे को स्वतंत्र रूप से पढ़ा जाए तो इसमें आध्यात्मिकता है ही नहीं। यह शुद्ध लौकिक कथन है।

किसी वस्तु के मूल्य का निर्धारण कैसे किया जाता है और अंत में वह कितनी महँगी या सस्ती बिकती है इसका संबंध केवल उस वस्तु की गुणवत्ता से ही नहीं होता अपितु ग्राहक की क्रय शक्ति और खरीदने की इच्छा से उसका मूल्य तय होता है। किसी वस्तु में गुण होने के बावजूद यदि ग्राहक नहीं है तो वह बिकेगी ही नहीं और अगर ग्राहक है तो वह लाख रुपये में भी बिक जाएगी। ग्राहक नहीं होने की स्थिति में उसका मूल्य एक कौड़ी के बराबर है। उचित ग्राहक मिल जाए तो उसकी कीमत लाख रुपये भी हो सकती है। इस दोहे की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कहीं भी आध्यात्मिक संकेत नहीं है।

7. माया तजूँ तजी नहीं जाइ,
   फिर फिर माय मोहि लपटाइ ।। टेक।।
   माया आदर माया माँन, माया नहीं तहाँ ब्रहम गियाँन।।
   माया रस माया कर जाँन, माया कारनि ततै परान।।
   माया जप तप माया जोग, माया बांधे सबही लोग।।
   माया जल थलि माया आकासि, माया व्यापि रही चहुँ पासि।।
   माया माता माया पिता, असि माया अस्तरी सुता।।
   माया मारि करै ब्यौहार; कहैं कबीर मेरे राँम अधार।।

कबीरदास की कविता में माया की धारणा बहुत महत्वपूर्ण है। वे उपदेश देते हैं कि जीव को माया से मुक्त होने का प्रयास करना चाहिए। इस पद में एक ऐसे साधक की परेशानी को व्यक्त किया गया है जो वैचारिक रूप से सहमत हो गया है कि उसे माया को त्याग देना है। इस निर्णय के बाद जब वह माया का त्याग करने लगता है तब समस्या उत्पन्न होती है। इस समस्या का काव्यात्मक विवरण इस पद में दिया गया है। साधक कहता

है कि माया का मैं त्याग करना भी चाहता हूँ परन्तु माया मुझसे छूट नहीं पा रही। माया फिर-फिर मुझसे लिपट जाती है। मैं तो इस माया से दूर रहने का प्रयत्न करता हूँ लेकिन माया मुझसे दूर नहीं हटती और यह माया अनेक रूप धारण करके फिर से मुझसे लिपट जाती है।

भाव के स्तर पर जिसे हम आदर और सम्मान कहते हैं वह वास्तविक रूप में माया है। मनुष्य जिस आदर और मान की आकांक्षा रखता है वह वास्तव में माया ही है और अगर विविध रूपों वाली माया हमारे पास नहीं होगी अर्थात उसे त्याग देंगे तभी जाकर हमें 'ब्रह्मज्ञान' प्राप्त हो सकता है। माया के रस अर्थात माया से प्राप्त आनन्द को 'माया' के रूप में पहचानने की आवश्यकता है। इसी माया के कारण प्राण को कष्ट होता है। कबीर के अनुसार यह माया जगत् के प्रत्येक व्यापार में व्याप्त है और इसी में लिप्त होने के कारण मनुष्य ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने से वंचित रह जाता है।

'माया' के विविध रूपों का उल्लेख करते हुए कबीर कहते हैं कि जिसे हम जप और तप कहते हैं अर्थात 'राम' नाम का जाप और तपस्या, यह भी माया का ही एक रूप है जिसे हम 'भोग साधना' कहते हैं वह भी माया ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आध्यात्मिकता के क्षेत्र में सक्रिय सभी लोग माया से बँधे हुए हैं और माया ही आकाश है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस सृष्टि के जल, धरती और आकाश ये तीनों ही माया के रूप में है और तीनों ही हमें आसानी से उपलब्ध हैं। इन तीनों ही स्थानों पर माया व्याप्त हो रही है।

जहाँ तक मानवीय संबंधों का प्रश्न है उनमें माता-पिता, स्त्री और पुत्र आते हैं। ये हमारे सर्वाधिक निकट होते हैं। लेकिन यही 'माया' है। माता भी माया है, पिता भी माया है, स्त्री भी माया है और संतान भी माया है। इनके प्रेम में जो डूबा रहता है वह तो माया से ग्रस्त ही माना जाएगा।

अंतिम पंक्ति में कबीर उपदेश देते हैं कि इस माया को मार कर जीवन जीना चाहिए अर्थात जीवन का व्यवहार करना चाहिए। अंत में कबीरदास कहते हैं कि मैं माया का सहारा नहीं लेता अपितु मेरे आधार 'राम' हैं। अर्थात् मैं पूरी तरह 'राम' पर निर्भर हूँ और जब तक मनुष्य संपूर्ण रूप से 'राम' पर निर्भर नहीं रहेंगा तब तक माया से मुक्त नहीं हो पाएगा।

8. जो मैं ग्याँन विचार न पाया
तो मैं यौं ही जन्म गँवाया।।टेक।।
यहु संसार हाट करि जाँनूँ, सबको बणिजण आया।
चेति सकै सो चेतौ रे भाई, मूरिख मूल गँवाया।।
थाके नैन बैंन भी थाकै, थाकी; सुंदर काया।
जाँमण मरण ए द्वै थाकै, एक न थाकी माया।
चेति चेति मेरे मन चंचल, जब लग घट मैं सासा।
भगति जाव परभाव ना जइयौं, हरि के चरण निवासा।।
जै जन जाँनि जपैं जग जीवन, तिनका ग्याँन न नासा।
कहै कबीर वे कबहूँ न हारैं, जाँनि न ढारै पासा।।।।

सरलार्थ : कबीरदास ज्ञानमार्गी भक्त माने जाते हैं। वे अपनी रचनाओं में ज्ञान की महत्ता को बराबर रेखांकित करते चलते हैं।कबीरदास अपने आपको और अपने श्रोताओं को संबोधित करते हुए कहते हैं कि मेरे पास या जीवमात्र के पास ज्ञान तो होना ही चाहिए। ज्ञान का यहाँ तात्पर्य ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान है।

- यदि मनुष्य जन्म लेकर किसी के पास ज्ञान का विचार नहीं आया तो जन्म व्यर्थ ही हुआ है, निष्फल है, खो दिया है। जीवन है ही नहीं।

- इसको उदाहरण से समझाते हुए कबीर इस संसार का वृत्तांत देते हैं कि यह संसार तो हाट है, बाज़ार है। यहाँ सारे मनुष्य व्यापार हेतु आए हैं। यहाँ व्यापार का तात्पर्य 'कर्मफल' का व्यापार है, भगवद्भक्ति का व्यापार है। इस व्यापार की नगरी में यदि कोई गाफ़िल (मूर्ख की तरह) रहेगा तो व्यापार का लाभ तो होगा ही नहीं और उसका मूलधन भी समाप्त हो जाएगा। 'मूलधन' का अर्थ 'मानव' शरीर से लिया जा सकता है। अतः कबीर कहते हैं मनुष्य यदि चेत सको तो चेत लो।

- इस जीवन जीने के क्रम में वृद्धावस्था आती है। वृद्धावस्था में इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं इसका प्रभाव नेत्रों और वचन आदि पर पड़ता है। कबीर कहते हैं कि इस संसार में आने पर कुछ दिनों बाद वाणी थक जाती है और दो केवल इन्द्रियाँ अपितु, यह सुन्दर काया जिसके सौन्दर्य पर हमें गर्व है, यह भी अंततः थक जाता है, शिथिल हो जाता है।

- जन्म से लेकर और मृत्यु को प्राप्त होकर भी हम थक जाते हैं। सब थक जाते हैं, परन्तु यह माया नहीं थकती। इसलिए कबीर अपने मन को जाग्रत करने के लिए कहते हैं कि हे! मेरे चंचल (इधर उधर भटकने वाले) मन तू अभी भी चेत जा। यह चेतना तभी तक है जब तक शरीर में प्राण है। प्राण जाने के बाद तो सब समाप्त हो जाएगा। अतः अपने मन से भगवत् भक्ति करो, भक्ति में मन रमाओ, किसी और वस्तु (माया) के प्रभाव में मत पड़ो। केवल हरि के चरणों में ही निवास करो क्योंकि इसी के द्वारा मुक्ति संभव है। जिसे ईश्वर (ब्रह्म)का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है उनका ज्ञान कभी भी नष्ट नहीं होता। वे सजग रहकर जीवन व्यतीत करते हैं।

- निष्कर्षतः जो जन यह सब जानकर जगत में जीवित रहता है उनका ज्ञान कभी नष्ट नहीं होता। कबीर कहते हैं कि वह व्यक्ति जुए में कभी नहीं हारता जिन्हें 'पासा' फेंकना आता है। यह पासा ही भगवद्भक्ति है। जिसे ईश्वर (ब्रह्म) का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है, उनका ज्ञान कभी भी नष्ट नहीं होता वे सजग रहकर जीवन व्यतीत करते है।

16.4 सारांश

कबीर की कविताओं का विश्लेषण करने की प्रक्रिया में उनकी कविता में निहित दर्शन, सामाजिक मान्यताएँ, कर्मकांड का विरोध, गुरु की महत्ता तथा ईश्वर का अनुग्रह आदि बिन्दुओं को ध्यान में रखना आवश्यक है। कबीर के ब्रह्म निर्गुण हैं। लेकिन फिर भी उन्होंने अनेक नामों से अपने ब्रह्म को अभिहित किया है। उनकी कविताओं में निहित सामान्य अर्थों में असाधारण अर्थ एवं व्यंग्य प्रक्षिप्त रहता है। उनकी कविता में सिद्धों और नाथों की वाणी का प्रभाव देखा जाता है। अतः विश्लेषण करते समय इन सब बिन्दुओं को जानना और पहचानना आवश्यक हो जाता है। कबीर का अद्वैतवादी दर्शन, शंकराचार्य के दर्शन से भिन्न हैं। भिन्नता इस अर्थ में है कि जब ब्रह्म सत्य है तो उसकी निर्मिति अर्थात् जगत् असत्य कैसे हो सकता है। वे मूर्तिपूजा, छापा, तिलक, रोजा, नमाज के कर्मकांडी पक्ष का विरोध करते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में समाज के सभी वर्गों की समानता की बात करते हैं। उन्होंने गुरु की महत्ता स्वीकार की है और गुरु को सांसारिक बंधनों, मिथ्याचारों से मुक्ति देने वाला माना है। मनुष्य के लिए बाहयाचार को महत्वपूर्ण न मानकर उसके

अंतर्मन के भाव को शुद्ध करने की बात करते हैं। इस इकाई में कबीर की कविताओं के विश्लेषण के कुछ प्रमुख बिन्दुओं पर विचार किया गया है। आप कबीर संबंधी विशिष्ट शब्दावली की इकाई से सहायता लेकर उनकी साखियों और पदों का और अधिक विस्तार से विश्लेषण एवं मूल्यांकन कर सकते हैं।

16.5 अभ्यास प्रश्न

1. कबीर की कविताओं का विश्लेषण करते समय किन बिन्दुओं पर विशेष रूप से विचार करना आवश्यक है। सोदाहरण बताइए।

2. 'कबीर की कविता जीवनानुभवों का समृद्ध कोश है' – इस कथन पर विचार कीजिए।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

इकाई 17 कबीर और मानव मुक्ति की धारणा

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्‌देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 कबीर के दार्शनिक विचारों का आधार

17.3 मनुष्य की धारणा

17.4 मुक्ति का अर्थ

17.5 मुक्ति के उपाय

17.6 मुक्त मनुष्य का स्वरूप

17.7 राम का स्वरूप

17.8 सारांश

17.9 अभ्यास प्रश्न

17.0 उद्‌देश्य

यह इकाई कबीर के चिन्तन और साहित्य में मानव मुक्ति की धारणा पर आधारित है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- कबीर के दार्शनिक विचारों के आधार को समझा सकेंगे;
- कबीर के सामाजिक चिन्तन और दार्शनिक चिन्तन के संबंध को स्पष्ट कर सकेंगे;
- कबीर के चिन्तन के संदर्भ में मानव मुक्ति की धारणा की जानकारी दे सकेंगे, और
- कबीर के काव्य में अभिव्यक्त मुक्त मनुष्य के स्वरूप को विवेचित कर सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

कबीर भक्तिकाल की निर्गुणधारा के महत्वपूर्ण कवि है। इस निर्गुण धारा का प्रारम्भ कबीर से बहुत पहले हो चुका था। कबीर उसी परम्परा में आते हैं। इस धारा का प्रारम्भ सरहपा आदि सिद्धों और गोरखनाथ आदि नाथों के साहित्य से माना जाता है। वे एक परम्परा के वाहक हैं। कबीर का चिन्तन उनका इस अर्थ में मौलिक चिन्तन नहीं है लेकिन उसमें व्यक्त विचार उनके अपने ही हैं। परम्परा प्राप्त विचारों को कबीर ने अनुभवजन्य प्रमाणों और विवेक से सम्मत निरीक्षण से पुष्ट किया तथा अपने समय में विचारों की 'सत्यता' को प्रतिष्ठित किया। कबीर के विचारों के बीज हमें सिद्धों और नाथों की रचनाओं में मिल जाते हैं। कबीर उनके विचारों को मानते थे और उन विचारों के विरोधियों का खण्डन करते थे। इस वैचारिक संघर्ष का सामाजिक आधार था। इस समाज से कबीर को बल मिलता था। इन परम्परा प्राप्त विचारों को कबीर ने सर्जनात्मक रूप में प्रस्तुत किया। इस सर्जनात्मकता का भी अपना महत्व है। कबीर इतने आत्मविश्वास और इतनी दृढ़ता से अपनी बात कहते हैं, जिनसे ये विचार कबीर के अपने ही लगते हैं। इसलिए इन विचारों की मौलिकता का प्रश्न कभी उठता ही नही। कबीर इनकी प्रामाणिकता को पुष्ट करते हैं। इस विचार परम्परा के भीतर कबीर अपने समय के समाज और मनुष्य पर बारीक टिप्पणियाँ करते हैं।

17.2 कबीर के दार्शनिक विचारों का आधार

कबीर के दार्शनिक विचार आज के युग में भले ही सामान्य लगते हों, परन्तु अपने समय में ये विचार बहुत क्रांतिकारी माने गए थे। उस दौर में ऐसे विचार प्रकट करना बहुत साहस की बात थी। कबीर के विचारों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। उनके विचारों का एक भाग उनका समाज संबंधी चिन्तन है। जहाँ वे समाज की परंपराओं, मान्यताओं, विश्वासों का खण्डन करते हैं। उनके विचारों का दूसरा भाग दार्शनिक है, जहाँ वे जीव, आत्मा, परमात्मा, माया आदि का विवेचन करते हैं। आधुनिक चिन्तक, कबीर के सामाजिक चिन्तन से अपनी सहमति व्यक्त करते हैं, परन्तु उनके दार्शनिक चिन्तन से अपने आपको दूर रखते हैं। हालांकि ध्यान से देखने पर पता चलता है कि उनके सामाजिक चिन्तन का गहरा सम्बन्ध उनके दार्शनिक चिन्तन से है। दर्शन से वे शक्ति ग्रहण करते हैं और समाज की परम्परागत शक्तियों से टकराते हैं। इसलिए कबीर के चिन्तन को ठीक से समझने के लिए उनके दर्शन को भी समझने की जरूरत है।

मध्यकाल के अन्य भक्त कवियों के समान कबीर ने मनुष्य की सामूहिक मुक्ति की कोई अवधारणा सामने नहीं रखी। वे मानते थे कि इस पतित समाज में मनुष्य अपने प्रयासों से स्वयं मुक्त हो सकता है। अतः कबीर की मानव मुक्ति की धारणा वैयक्तिक मुक्ति की धारणा थी। उनका मानना है कि गृह-दारा-सुत-भाई से हमारा जो सम्बन्ध है, वह स्वार्थ पर आधारित है। इनके लिए अपनी चेतना को दूषित नहीं होने देना चाहिए।

उनका यह भी मानना था कि विचार से मुक्ति मिलती है। विचार से ज्ञान मिलता है। ज्ञान से भ्रम का निवारण होता है। इससे रास्ता मिलता है और हम सही दिशा में, कर्म की दिशा में आगे बढ़ते हैं। कबीर का एक पद है-

> संतौ भाई आई ग्यान की आँधी रे।
> भ्रम की टाटी सबै उडाँणी, माया रहै न बाँधी।। टेक।।
> हिति चित की द्वै थूँनी गिराँनी, मोह बलिंडा तूटा।
> त्रिस्नाँ छाँनि परि घर ऊपरि, कुबधि का भाँडाँ फूटा।।
> जोग जुगति करि संतौं बाँधी, निरचू चुवै न पाँणी।
> कूड़ कपट काया का निकस्या हरि की गति जब जाँणी।।
> आँधी पीछै जो जल बूठा, प्रेम हरि जन भींनाँ।
> कहै कबीर माँन के प्रगटे उदित भया तम षींनाँ।।

ज्ञान की इस आँधी के बाद प्रेम की बरसात होती है और प्रेम मुक्ति का रास्ता दिखाता है। तात्पर्य यह है कि मानव मुक्ति का द्वार ज्ञान से खुलता है और ज्ञान गुरु देता है। अतः कबीर की साखियों में सबसे पहले 'गुरुदेव को अंग' आता है। वे कहते हैं कि ज्ञान देने वाला गुरु ही हमारा अर्थात जीव का 'सगा' है। वही पूजनीय है, आदरणीय है। इसलिए इस गुरु का मैं बलिहारी हूँ। गुरु ने जो शब्द का बाण चलाया, उसी से मैं घायल हुआ। तब मन में प्रेम पैदा हुआ -

> पीछे लागा जाई था, लोक वेद के साथि।
> आगै थै सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथ।।

मैं तो लोक और वेद का अनुकरण कर रहा था। उनके पीछे-पीछे चल रहा था। अपना कोई विवेक तो था ही नहीं। आगे मुझे गुरु मिले और उन्होंने मेरे हाथ में ज्ञान का दीपक दे दिया। अब मैं स्वयं अपना रास्ता देख सकता हूँ। मुझे किसी के पीछे-पीछे चलने की जरूरत नहीं है। यह गुरु जीव को ज्ञान देता है। इसलिए वह ईश्वर के समान महिमाशाली है।

दुनिया में भ्रम का अन्धकार है। कुछ दिखाई नहीं दे रहा। ऐसे में गुरुदेव ने शिष्य के हाथ में ज्ञान का दीपक दे दिया। इस दीपक के प्रकाश में रास्ता स्पष्ट दिखाई देने लगा। चलना तो स्वयं को ही है, परन्तु रास्ता बताने वाला बड़ा है। श्रेष्ठ है। पूजनीय है। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि गुरु के पास ही ज्ञान न हो तो क्या हो ? कबीर ने इसकी ओर संकेत किया है-

> जाका गुर भी अंधला, चेला खरा निरंध।
> अंधा अंधा ठेलिया, दून्यूँ कूप पड़ंत।।

अन्धा गुरु (ज्ञानहीन) अन्धे (अज्ञानी) शिष्य को ठेलकर सही मार्ग पर नहीं ले जा पाएगा, बल्कि दोनों ही कुँए में गिर जाएँगे। तब इनकी मुक्ति संभव नहीं। फिर गुरु भी ऐसी स्थिति में विवश है जहाँ शिष्य में ज्ञान प्राप्ति की लालसा नहीं है। तब कुछ नहीं हो सकता। अतः शिष्य को भी अपनी तरफ से सजग रहना होता है। उसे गुरु पर संशय नहीं करना चाहिए। वह विश्वास करे क्योंकि गुरु और गोविन्द तो एक ही हैं। अतः मुक्ति का सबसे पहला सोपान है, जहाँ व्यक्ति को सही गुरु मिल जाए।

यहाँ कबीर ने ढोंगी साधुओं और गुरुओं की कड़ी आलोचना की है।

> पाँड़े कौन कुमति तोहि लागी, तूँ राम न जपहि अभागी।। टेक।।
> वेद पुरान पढ़त अस पाँड़े, खर चंदन जैसैं भारा।
> राम नाम तत समझत नाँहीं, अंति पड़ै मुखि छारा।।
> बेद पढ्याँ का यहु फल पाँडे, सब घटि देखैं रामा।
> जन्म मरन थैं तौ तूँ छूटै, सुफल हूँहि सब काँमाँ।।
> जीव बधत अरु धरम कहत हौ, अधरम कहाँ है भाई।
> आपन तौ मुनिजन ह्वै बैठे, का सनि कहौं कसाई।।
> नारद कहै ब्यास यौं भाषैं, सुखदेव पूछौ जाई।
> कहै कबीर कुमति तब छूटै, जे रहौ राम ल्यौ लाई।।

यहाँ कबीर बहुत अपनत्व और प्रेम से फटकारते हैं। उसे आगाह करते हैं। उस भाग्यहीन को सलाह देते हैं कि तू वेद पुराण में क्यों अटका हुआ है। राम का जाप किया कर। राम नाम के तत्व को, रहस्य को समझे बिना कोई भी जन्म-मरण के बन्धन से छूट नहीं सकता। जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति ही तो वास्तविक मुक्ति है। धर्म का व्यवसाय करने वाले लोगों पर कबीर बराबर चोट करते हैं। वे पंडितों से पूछते हैं कि इस पाखंड को तुम धर्म कहते हो तो फिर अधर्म क्या है ? धर्म के नाम पर जीव हत्या उन्हें स्वीकार्य नहीं है। कबीर कर्मकांडी पंडितों को फटकार लगाते हैं और उसके माध्यम से आम जन को समझाते हैं कि ऐसे पंडितों का अनुसरण नहीं करें।

17.3 मनुष्य की धारणा

कबीर की मानव मुक्ति की धारणा को समझने से पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि कबीर मानव तन को क्या समझते हैं ? आज मनुष्य के बारे में हमारी जो समझ है, कबीर की समझ उससे भिन्न थी। हालाँकि वह समझ अपने आप में पूर्ण थी। इस समझ के आधार पर वे मनुष्य के जीवन का विश्लेषण कर सकते थे। उसे दिशा-निर्देश दे सकते थे। कबीर की कविता में हम इन्हें यत्र-तत्र देख सकते हैं। कबीर मानते हैं कि मनुष्य का शरीर पाँच तत्वों से बना हुआ है- धरती, सूर्य, आकाश, पवन और जल। माता-पिता के मिलन से इस शरीर का जन्म होता है और कुछ काल के उपरान्त इसकी मृत्यु हो जाती है। मृत्यु हो जाने के बाद यह शरीर पाँचों तत्वों में पुनः मिल जाता है। फिर जिसका जन्म होता

है, उसकी मृत्यु होती है। यह अटल सत्य है। यह अनुभव, निरीक्षण और ज्ञानियों के उपदेश से समाज में व्याप्त है। यह शरीर क्षणभंगुर है। यह काया कच्ची है। कुम्हार द्वारा बनाए गए मिट्टी के कच्चे घड़े के समान है। किसी भी क्षण वह मिट्टी में मिल सकता है। इस शरीर में इन्द्रियाँ होती हैं, जिसे वे शरीर रूपी पिंजरे के दस दरवाजे कहते हैं। इन इन्द्रियों का स्वामी 'मन' होता है। मन के आदेश से इन्द्रियाँ चलती हैं। इसके भीतर मनुष्य की आत्मा रहती है। कभी कबीर उसे 'जीव' कहते हैं, कभी आत्मा कहते हैं। यह आत्मा उस परम पिता परमेश्वर का हिस्सा है। इस आत्मा का न जन्म होता है और न मृत्यु होती है। मृत्यु केवल शरीर की होती है। बीमार शरीर होता है आत्मा नहीं होती। बिना शरीर के आत्मा नहीं रह सकती। इसलिए आत्मा को शरीर धारण करना पड़ता है। इस तरह शरीर, इन्द्रियाँ, मन और आत्मा ये सब मिलकर मनुष्य बनते हैं।

मृत्यु की अवस्था में आत्मा शरीर को छोड़कर चली जाती है। यहाँ आत्मा या जीव के पास दो विकल्प होते हैं। एक तो यह कि वह एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में चली जाती है या दूसरा कि वह परमात्मा से मिल जाती है। मध्यकालीन सन्तों-भक्तों के अनुसार इस पृथ्वी पर या सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में 84 लाख योनियाँ हैं। जीव को अपने कर्मों के अनुसार इन योनियों में जन्म लेना होता है। फिर घूमते-घूमते वह मानव शरीर ग्रहण करता है। यह मानव शरीर अमोलक है। यह जीवन मूल्यवान है। इसी जीवन में मनुष्य मुक्त हो सकता है। अन्य जीवधारी कभी भी मुक्त नहीं हो सकते। अतः मुक्ति की धारणा का सम्बन्ध मनुष्य से ही है। मुक्ति का यहाँ अर्थ जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति है। यही कबीर के अनुसार परम पुरुषार्थ है।

17.4 मुक्ति का अर्थ

वैसे भारतीय चिन्तन में चार पुरुषार्थों का उल्लेख मिलता है- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष; परन्तु कबीरदास सिर्फ एक ही पुरुषार्थ मानते हैं मोक्ष अर्थात् मुक्ति। इस तरह कबीर के अनुसार मुक्ति का अर्थ है इस संसार से मुक्ति और उस परमपिता परमेश्वर के साथ एकाकार। कबीर के अनुसार यह मुक्ति इस संसार में रहकर नहीं हो सकती। यह संसार तो कबीर के अनुसार भवसागर है। यहाँ कबीर एक दार्शनिक प्रश्न पूछते हैं, जिसका उत्तर अभी तक नहीं मिला। मानव शरीर के भीतर यहाँ आत्मा या जीव या प्राण (उसे आप जो भी नाम दें) वह कहाँ से आती है, कैसे आती है। इसी से जुड़ा हुआ दूसरा प्रश्न यह है कि मृत्यु के समय शरीर तो यहीं पड़ा रहता है लेकिन यह जीव या प्राण या आत्मा कहाँ चली जाती है ? इन प्रश्नों के उत्तर में कबीर का रहस्यवाद हमारे सामने आता है। बहुत सी ऐसी बातें हैं, जिनका उत्तर आज विज्ञान द्वारा सुलभ है। लेकिन जीवन सम्बन्धी ये प्रश्न तो आज भी वैज्ञानिकों, चिन्तकों और विचारकों के सामने हैं ही -

ता मन कौ खोजहु रे भाई, तन छूटे मन कहाँ समाई।

इस मन को खोजना सरल नहीं है। नारद जैसे ज्ञानी मुनि भी, ध्रुव, प्रह्लाद जैसे भक्त भी शरीर के भीतर रहने वाले इस मन को नहीं देख पाए। सिर्फ गोरखनाथ, भर्तृहरि और गोपीचन्द इस मन से मिलकर आनन्द कर रहे हैं। इस 'अलख निरंजन' से कबीर मिल गया है।

फिर कबीर कहते हैं कि जीव शरीर को छोड़कर चला जाता है। जहाँ जाता है, वहाँ से कोई वापिस नहीं आता। इसलिए उसके कुशल क्षेम के बारे में हम कुछ जान नहीं पाते हैं:

उतीथैं कोई न आवई, जाकूं बूझौं घाइ।
इतथैं सबै पठाइये, भार लदाई लदाई।।

यह भार कबीर के अनुसार कर्मों का भार है अन्यथा कबीर कहते हैं कि धन-माया की गठरी लेकर किसी को जाते हुए देखा नहीं। सारी सम्पत्ति यहीं रह जाती है और आदमी अकेला और खाली हाथ इस संसार से चला जाता है। जो भार लेकर जाते हैं, वह अपने कर्मों या कुकर्मों का भार है। इन कर्मों के अनुसार उसे अपना अगला जीवन जीना है।

कबीर इस संसार में मानव की मुक्ति नहीं देखते। वे इस संसार से परे जाकर मानव-मुक्ति देखते हैं। कबीर के इस निष्कर्ष को समझने के लिए कबीर की संसार संबंधी धारणा, उनकी मानव की समझ, संसार की गतिविधियों आदि को समझने की जरूरत है। इस दृष्टि से देखा जाए तो कबीर की दृढ़ मान्यता है कि चौरासी लाख प्रकार के जीव इस संसार में विचरण करते हैं। इनमें से सिर्फ मनुष्य को ही मुक्ति हो सकती है। अन्य प्राणी मुक्त नहीं हो सकते। उन्हें अपने-अपने कर्मों के अनुसार पुनर्जन्म लेना पड़ता है। कबीर उदाहरण देकर कहते हैं कि भेड़ का बहुत बार मुण्डन होता है, परन्तु वह कभी बैकुण्ठ नहीं जा पाती। इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर कबीर कहते हैं-

नर के साथि सुवा हरि बोलै, हरि परताप न जानै।
जे कबहूँ उड़ि जाइ जंगल में, बहुरि न सुरतै आनै।
साची प्रीति विषै माया सूँ, हरि भगतनि सूँ हासी।
कहै कबीर प्रेम नहीं उपज्यौ, बाँध्यौ जमपुरि जासी।।

यहाँ कबीर कहना चाहते हैं कि सिर्फ राम का नाम लेने से मुक्ति नहीं मिलती। घर में जब गृहस्वामी राम का नाम बोलता है तो तोता भी राम-राम बोलने लगता है। सिर्फ इस बोलने से उसकी मुक्ति नहीं मिलती। वह न तो राम का मर्म समझता है न राम से प्रेम करता है। इसी के समान जो सिर्फ राम का नाम रटते हैं, वे कभी मुक्त नहीं हो सकते। कबीर की अनेक साखियां और पद मिलते हैं, जिनमें वे यह स्थापित करते हैं कि मुक्ति सिर्फ मनुष्य को ही मिल सकती है। शेष प्राणियों को पुनर्जन्म का दुःख झेलना ही पड़ता है। इसलिए मनुष्य का तन बहुत मूल्यवान है।

मनुष्य के रूप में जन्म लेने के बाद उसके पास एक अवसर आता है। इस अवसर का सदुपयोग करके वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो सकता है। इसलिए मनुष्य को या जीव को इस अवसर का सदुपयोग करना चाहिए। परन्तु मनुष्य नादानी वश यह अवसर भी खो देता है। कबीर इसकी चिन्ता करते हैं। ऐसे नादान मनुष्य के लिए पीड़ा महसूस करते हैं। इस कारण हम कह सकते हैं कि कबीर मनुष्य से प्रेम करते हैं। उनका चिन्तन और लेखन मनुष्य की हित-चिन्ता से ओत प्रोत है। भले ही उनके तर्कों से कोई असहमत हो सकता है, परन्तु मनुष्य की हित-चिन्ता को अनदेखा नहीं किया जा सकता। इसलिए वे कहते हैं-

ऐसा औसरि बहुरि न आवै, राम मिलै पूरा जन पावै।
जनम अनेक गया अरु आया, की बेगारि न भाड़ा पाया।।

ऐसा अवसर बार-बार आने वाला नहीं है। यहाँ से चूके तो फिर 84 लाख योनियों में भटकना पड़ेगा। इन अनेक जन्मों में आने जाने का कोई किराया तक नहीं मिलता। ऐसा लगता है कि सारे जन्मों में बेगारी ही की है। यह अवसर तो मानव जीवन में ही मिल सकता है। इसलिए मनुष्य को उपदेश देते हुए, उसे आगाह करते हुए कबीर कहते हैं-

जन्म अमोलक जात है, चेति न देखै कोई।।

कबीर बार-बार यह घोषणा करते हैं कि यह नर की देह बार-बार नहीं मिलती है। इसलिए मनुष्य को प्रसन्नतापूर्वक हरि के गुण गाने चाहिए। आगे कबीर कहते हैं :

जब मन नहीं तजै बिकारा, तो क्यूँ तरिये भौ पारा।।
जे मन छाड़ै कुटिलाई, तब आइ मिलै राम राई।
ज्यूँ जींमण त्यूँ मरणाँ, पछितावा कछु न करणाँ।।
जाँणि मरै जे कोई, तो बहुरि न मरणाँ होई।
चित चंचल निहचल कीजै, तब राम रसाइन पीजै।।
जब राम रसाइन पीया, तब काल मिटया जन जीया।।
ज्यूँ दास कबीरा गावै, ताथैं मन को मन समझावै।
मन ही मन समझाया, तब सतगुर मिलि सचु पाया।।

कबीर के अनुसार यह बहुत सरल है। बस मन की कुटिलता छोड़ दो, तब राम अपने आप मिल जाएगा। कबीर जानते हैं कि यह सरल नहीं है। इसके लिए निस्पृह दार्शनिक दृष्टि की जरूरत है।

17.5 मुक्ति के उपाय

अपने निष्कर्षों में आगे बढ़ते हुए कबीर कहते हैं कि इस शरीर को राम के प्रेम में लगा दें तो मनुष्य को मुक्ति मिल सकती है। परन्तु यह सरल नहीं है। इसमें अनेक बाधाएँ हैं। कबीर ने उन बाधाओं का विस्तार से वर्णन किया है। सामान्य मनुष्य की सहज वृत्तियों के वर्णन में कबीर अपने काल के मनुष्य के क्रियाकलापों का वर्णन करते हैं। कबीर कहते हैं कि मनुष्य के पास पाँच इन्द्रियाँ हैं। ये इन्द्रियाँ स्वाद की तरफ आकर्षित होती हैं। इसलिए इनको वे 'कुसंगी' कहते हैं। जीव के साथ ये पाँच उसे पाप की तरफ ले जाते हैं। मनुष्य को प्रयास पूर्वक इनके प्रभाव से अपने आपको मुक्त रखना है। इसलिए कबीर ने इन्द्रियों से प्राप्त सुख की सबसे अधिक आलोचना की है।

मनुष्य बड़ा होता है, युवा होता है तब उसके शरीर में ताकत आती है। इस ताकत से उसमें अहंकार आता है। इसलिए कबीर कहते हैं कि यह तन तो कागद का पुतला है। जिस पर एक बूंद पानी गिरते ही वह गल जाता है या वह कुम्हार द्वारा बनाए हुए कच्चे घड़े के समान है। कहीं से एक ठोकर लगती है और वह चकना चूर हो जाता है। कबीर के समय में भी गुण्डों, बदमाशों और दुष्टों को अपने शरीर का बहुत अहंकार था। इस ताकत के बल पर वे दूसरों पर रौब जमाते थे। कबीर ने शरीर की ताकत से उत्पन्न अहंकार की कड़ी आलोचना की है। अनेक साखियों और पदों में उनके ये विचार बिखरे पड़े हैं। उन्होंने लिखा-

नर जाँणै अमर मेरो काया, घर घर बात दुपहरी छाया।।
मारग छाड़ि कुमारग जीवै, आपण मरैं और कूँ रोवै।।
एक किया कछू एक करणा, मुगध न चेतै निहचै मरणाँ।।
ज्यूँ जल बूँद तैसा संसारा, उपजत बिनसत लागै न बारा।।
पंच पँषरिया एक सरीरा, कृष्ण कवल दल भवर कबीरा।।

कबीर मनुष्य के सोचने के तरीके पर बात करते हैं। नर का अर्थ यहाँ नर और नारी दोनों से है अर्थात् मनुष्य। मध्यकालीन साहित्य मूलतः पुरुषों को सम्बोधित है, इसलिए यहाँ उन्होंने नर को सम्बोधित किया है। मनुष्य सोचता है कि उसकी काया अमर है। आम आदमी को मृत्यु याद नहीं रहती और इसी कारण वह अनेक कर्म करता है- कुछ अच्छे ओर कुछ बुरे कर्म करता है। उसे उन कर्मों का फल मिलता है। सार रूप में संसार के स्वरूप को व्याख्यायित करते हुए कबीर कहते हैं कि यह संसार तो एक बूँद के समान है, जिसके उत्पन्न होने और नष्ट होने में ज्यादा समय नहीं लगता। मनुष्य यह समझ ले तो उसके मन से सारा अहंकार समाप्त हो सकता है जो सभी बुराइयों की जड़ है। इसके

अलावा धन-सम्पत्ति का अहंकार, राजसत्ता का अहंकार; इन सभी को कबीर मिथ्या घोषित करते हैं। कबीर की रचनाओं को पढ़ते हुए लगता है कि वे इस अहंकार की सबसे अधिक निंदा करते हैं। इसलिए वे कहते हैं कि:

तन धन जीवन अंजुरी कौ पानी, जात न लागै बार।
सैवल के फूलन परि फूल्यो, गरब्यो कहाँ गँवार।।
खोटी खाटै खरा न लीया, कछू न जाँनी साटि।
कहै कबीर कछू बनिज न कीयौ, आयौ थौ इहि हाटि।।

अर्थात् तन, धन और यौवन अंजुरि के पानी के समान है। यह देखते-देखते चला जाएगा। इसलिए हे मानव! तुम टेढ़ा टेढ़ा क्यों चल रहे हो, तुम में अकड़ किस बात की है ?

चलत कत टेढौं टेढ़ौं रे।
नऊँ दुवार नरक धरि मूंदे, तू दुरगंधि को बैढी रे।।
जे जारे तौ होई भसमतन, रहित किरम जल खाई।
सूकर स्वाँन काग कौ भखिन, तामें कहा भलाई।
फूटे नैन हिरदै नाहीं सूझै, मति एकै नहीं जानीं।।
माया मोह ममिता सूँ बाँध्यो, बूडि मूवो बिन पाँनी।।
बारु के घरवा मैं बैठी, चेतत नहीं अयाँनाँ।
कबीर एक राम भगति बिन, बूड़े बहुत सयाना।।

अर्थात् बहुत चतुर लोग भी रामभक्ति के बिना डूब जाते हैं। सहज रूप में आए हुए इस गर्व, घमण्ड और अहंकार को कबीर मिथ्या घोषित करते हैं। वे समझाते हैं। तर्क गढ़ते है। फटकारते हैं। वे अनेक उदाहरण देकर समझाने का प्रयास करते हैं।

यहाँ पर कबीर एक तर्क देते हैं। वह यह कि जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु होती है। जब मृत्यु होती है, तब इस माया, मोह, लोभ, लालच, धन, सम्पत्ति, गृह, दारा, सुत का कोई अर्थ नहीं रहता, क्योंकि मृत्यु के बाद कुछ भी आपके साथ नहीं जाता। संसार की सारी वस्तुएँ यहीं इसी संसार में रह जाती है। फिर कबीर एक और स्थापना करते हैं कि जिसकी मृत्यु होती है, उसका जन्म भी होता है। जन्म और मृत्यु दोनों अत्यन्त पीड़ादायक है। जन्म के समय गर्भ में नौ महीने तक रहना भी अत्यंत पीड़ादायक हैं। कबीर मानते हैं कि हम मृत्यु के दर्द को तो जानते हैं, परन्तु जन्म के दर्द का हमें एहसास नहीं होता। कबीर जब मुक्ति की बात करते हैं, तब उनका आशय जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति ही है। यह उनका अन्तिम और प्राथमिक लक्ष्य है।

कबीर किसी के जन्म की बधाई देने को अच्छा नहीं मानते। इसका उदाहरण देकर समझाते हुए वे कहते हैं कि जिस घर में जितना जन्म का उत्साह होता है, बधाई गीत गाए जाते है। उस घर में उतने ही लोगों की मृत्यु होती है, तब उतना ही रोना-धोना होता है।

कबीर इस संसार का, झूठा माया मोह।
जिहि घरि जिता बधावणाँ, तिहि घरि तिता अँदोह।।

इसलिए वे संसार के माया-मोह को ही निरर्थक मानते हैं। अतः मनुष्य को उस धन का संचय करना चाहिए जो आपके अगले जन्म तक साथ चले। अर्थात् मनुष्य को सत्कर्म करना चाहिए। संसार में जब वे दुःख का वर्णन करते हैं, तब वे दो तरह के दुःखों का वर्णन करते हैं- 'जरा-मरण' का दुःख अर्थात् बुढ़ापा और मृत्यु का दर्द। ये दोनों होते ही रहते हैं। इसलिए वे कहते हैं कि आदमी बीमार पड़ता है तो उसे रोग लग जाता है। इस रोग का इलाज करने के लिए वैद्य आता है। यहाँ तक तो ठीक है। बाद में क्या होता है?

बाद में वह रोगी मर जाता है। कोई भी वैद्य उसके मरने को तो नहीं टाल सकता। फिर कुछ दिनों के बाद वह वैद्य भी मर जाता है। जो इलाज करने के लिए आया है, वह अपना भी इलाज नहीं कर पाता। किसी के मरने पर उसके नाते-रिश्तेदार रोते हैं। थोड़े दिनों बाद वे रोने वाले भी मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। अब यदि वैद्य 'विधाता' हो तभी तो इस मृत्यु से बचा जा सकता है। दर्शन के स्तर पर कबीर इसकी कामना करते हैं:

> जहाँ जुरा मरण ब्यापै नहीं, मुवा न सुणिये कोइ।
> चलि कबीर तिहि देसड़ै, जहाँ बैद विधाता होइ।।

कबीर मानते हैं कि ऐसा हो सकता है। यह कोई अकल्पनीय स्थिति नहीं है। तब प्रश्न उठता है कि मनुष्य को क्या करना चाहिए? कबीर कहते हैं कि मनुष्य अपने मन को पवित्र रखे। काम, क्रोध, मोह, मद और ईर्ष्या से अपने आपको बचाए रखे। सारे समय मनुष्य 'उदर उपाया' करता रहता है। पेट भरने की चिन्ता करता है। लोभ और मोह के बन्धन में वह बँधा हुआ है। यह तो बिना गांठ की जेवड़ी है। फिर काम वासना ? इसका तो जैसे कोई इलाज ही नहीं है।

> जग सूँ प्रीति न कीजिए, सँमझि मन मेरा।
> स्वाद हेतु लपटाइए, को निकसै सूरा।।टेक।।
> एक कनक अरु कामनी, जग में दोइ फंदा।
> इनपै जो न बँधावई, ताका मैं बंदा।।।
> देह धरे इन माँहि बास, कहु कैसे छूटै।
> सीव भये ते ऊबरे, जीवन ते लूटै।।
> एक एक सूँ मिलि रहया, तिनहीं सचु पाया।
> प्रेम मगन लैलीन मन, सो बहुरि न आया।।
> कहै कबीर निहचल भया, निरभै पद पाया।
> संसा ता दिन का गया, सतगुर समझाया।।

कबीर अपने मन को समझाते हुए सार रूप में कहते हैं कि इस संसार में मुक्ति की दो ही बाधाएँ हैं- कनक और कामिनी। कनक यहाँ सिर्फ सोने तक सीमित नहीं है। उसमें तमाम धन-सम्पत्ति शामिल है। इसी तरह कामिनी सिर्फ स्त्री नहीं है। स्त्री-पुरुष के बीच जो काम सम्बन्ध है उसे समझना चाहिए। इन दोनों आकर्षणों से बचने पर ही मुक्ति का कुछ उपाय हो सकता है, अन्यथा मानव जीवन इसी में समाप्त हो जाता है। इसलिए मनुष्य को स्तुति, निन्दा, आशा को छोड़ देना चाहिए। मान-अपमान की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। लोहे ओर सोने को एक जैसा समझना चाहिए, तब वह भगवान के समान हो सकता है।

> माधौ मैं ऐसा अपराधी, तेरी भगति हेत नहीं साधी।
> कारनि कवन जाइ जग जनम्याँ, जनमि कवन सचु पाया।
> भौ जल तिरण चरण च्यंतामणि, ता चित घड़ी न लाया।
> पर निंद्या पर धन पर दारा, पर अपवादैं सूरा।
> ताथैं आवागवन होइ फुनि फुनि, ता पर संग न चूरा।
> काम क्रोध माया मद मंछर, ए संतति हम माँही।
> दया धरम ग्यान गुर सेवा, ए प्रभु सुपिनै नाँहीं।।
> तुम्ह कृपाल दयाल दमोदर, भगत बछल भौ हारी।।
> कहै कबीर धीर मति राखहु, सासति करौं हमारी ।।

कबीर की ये मान्यताएं उनकी रचनाओं में बिखरी पड़ी है। कबीर बहुत आत्मीय पीड़ा से कहते हैं कि प्रतिदिन मनुष्य की देह जा रही है। बचपन चला गया, यौवन भी चला

जाएगा। इसी क्रम में बुढ़ापा आएगा और फिर मृत्यु का संकट आएगा।

जाई रे दिन ही दिन देहा, करि लै बौरी राम सनेहा।।
बालापन गयौ जोबन जासी, जुरा मरण भौ संकट आसी।
पलट केस नैन जल छाया, मूरिख चेति बुढ़ापा आया।।
राम कहत लज्या क्यूँ कीजै, पल पल आउ घटै तन छीजै।
लज्या कहै हूँ जम की दासी, एकै हाथि मूदिगर दूजै हाथ पासी।।
कहै कबीर तिनहूँ सब हार्‌या, राम नाम जिनि मनहु बिसार्‌या।।

इस पद में कबीर फटकारते नहीं हैं। वे आत्मीयता से अपना अनुभव, निरीक्षण और ज्ञान बताते हैं। यहाँ कबीर अपने श्रोता को डराना नहीं चाहते। वे चाहते हैं कि श्रोता उनसे सहमत हो जाए। वे कहते है कि यह शरीर दिन-दिन जा रहा है। अर्थात् शरीर की मृत्यु एकदम नहीं होती। धीरे-धीरे होती ही रहती है। इसलिए हे पागल या भोले मनुष्य! उस राम से स्नेह कर लो। बचपन तो चला ही गया है। यहाँ एक अर्थ यह भी निकलता है कि कबीर बालकों को नहीं समझा रहे हैं। युवा होने के बाद, समझ आ जाने के बाद समझाते हैं। युवा अपने यौवन को स्थायी समझते हैं। कबीर का मानना है कि यह सही नहीं है जैसे बचपन चला गया है, वैसे ही यौवन भी चला जाएगा और यौवन के जाने के बाद बुढ़ापा और मृत्यु का आना अवश्यंभावी है। इसलिए तुम्हें राम का नाम लेने में लज्जा क्यों आ रही है ? कबीर आगाह करते हैं कि अब देखो तुम्हारे बालों का रंग बदल गया। आँखें खराब होने लगी है। उसमें से बराबर पानी आने लगा है। यही तो बुढ़ापा है। यह आ गया है। अब भी चेत सकते हो। इनके उपाय के रूप में कबीर कहते हैं कि जिसने अपने मन से राम को बिसार दिया है- जो राम को भूल गए हैं, जिनकी स्मृति में राम नहीं है, उसका जीवन हारा हुआ ही समझो। कबीर ने ऐसे अनेक पद लिखे हैं जिनमें उनकी छवि एक आत्मीय सलाहकार की है; उपदेशक की नहीं है।

कबीर समझाते हुए कहते हैं कि यदि जीवन की गिनती करें तो बारह बरस तो बचपन में ही चले गए। फिर बीस बरस तक कोई तपस्या नहीं की। तीस बरस का होने तक राम का सुमिरन नहीं किया। बाद में जब बूढ़े हो जाओगे तब पश्चाताप के अलावा कुछ नहीं बचेगा। सिर और पैर कांपने लगेंगे। आँखों में पानी आने लगेगा। ठीक से बोलना भी कठिन जो जाएगा इसलिए मानव जन्म लिया है तो 'करि ल्यौ जे कछु करणाँ।' जो कुछ तुम सार्थक करना चाहते हो, वह कर लो। सार्थक की जो अवधारणा कबीर के पास थी, उसे कबीर ने अभिव्यक्त भी किया है। मानव जीवन निरर्थक नहीं जाना चाहिए। इस रूप में कबीर की यह धारणा आज भी प्रासंगिक है।

इस क्रम में वे अन्य मतावलम्बियों की आलोचना भी करते हैं :

जौ तुम्ह पंडित आगम जाँणौ विद्या व्याकरणाँ।
तंत मंत सब ओशदि जाणैं, अंति तऊ मरणाँ।।
राज पाट स्यंधासण आसण, बहु सुंदर रमणाँ।
चंदन चीर कपूर विराजत, अंति तऊ मरणाँ।
जोगी जती तपी संन्यासी, बहु तीरथ भरमणाँ।
लुंचित मुंडित मोनि जटाधर, अंति तऊ मरणाँ।
सोचि बिचारि सबै जग देख्या, कहूँ न ऊबरणाँ।
कहै कबीर सरणाई आयौ, मेटि जामन मरणाँ।।

अब अपने विरोधी मतों के क्रियाकलापों का जिक्र करते हुए कबीर उनसे प्रश्न करते हैं कि माना कि तुम पंडित हो, तुम्हें आगम का ज्ञान है। व्याकरण भी पढ़ रखा है। और भी विद्याएँ

तुमको आती हैं। तुमको औषधियों का भी ज्ञान है। सब ठीक है, लेकिन तुम्हारे ज्ञान की तो एक सीमा है। अन्त में तो तुम्हें भी मरना ही है। तुम्हारे पास इस ज्ञान के अलावा लौकिक वैभव भी है। राजसी ठाट-बाट है। मनोरंजन के सब साधन हैं। शरीर पर पूरा प्रसाधन कर रखा है। चन्दन, कपूर सब है, परन्तु अन्त में तो तुम्हें भी मरना ही है। जितने भी योगी, यती, संन्यासी हैं, जिन्होंने बहुत से तीर्थों का भ्रमण कर रखा है या कुछ केश रहित है परन्तु अन्त में तो उन्हें भी मरना ही है। कबीर कहते हैं कि सारे संसार को सोच-विचार करके मैंने देख लिया है। अन्त में यही पाया है कि मृत्यु अटल है। मृत्यु है, इसका अर्थ है कि फिर से जन्म लेना होगा। मुक्ति तो नहीं मिल रही है न। इसलिए कबीर इस बात पर जोर देते हैं कि यदि आपने ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, तो यह जन्म आपने यों ही गुमा दिया।

चेति चेति मेरे मन चंचल, जब लग घर में सासा।
भगति-जाव परभाव न जइयौ, हरि के चरन निवासा।।

इसलिए कबीर मनुष्य को इस संसार से दूर रहने की सलाह देते हैं। सामान्य मनुष्यों को चेतावनी देते हुए कबीर कहते हैं कि जिस घर में तुम (जीव) बोलते और चलते हो; वह घर अर्थात् तुम्हारा शरीर भी तुम्हारा नहीं है। तब बाकी चीजें कहाँ तुम्हारी है। जब मृत्यु आती है तो शरीर को जला देते हैं या जानवर खाते हैं। जिस तन को इतना सँवारा था, उस तन को लेकर मिट्टी में डाल दिया गया है। आमतौर से मनुष्य अपनी देह को संवारता है। उसे सुन्दर दिखने की चाह रहती है। कबीर यहाँ कहते हैं कि जिस शरीर पर सुगन्ध का लेप किया जाता है, वह शरीर तो अन्त में लकड़ी के साथ जला दिया जाता है। शरीर को मोटा करने के लिए इतनी मेहनत करते हो, उसे अन्त में अग्नि को समर्पित करते हैं या सियार खा जाते है। इसलिए सिर्फ शरीर को संवारने या उसे शक्तिशाली बनाने की जरूरत नहीं है। जीवन का उद्देश्य शरीर से आगे है। शरीर की सेवा से कुछ अलग है।

कारनि कौन सँवारै देहा,
यहु तनि जरि बरि ह्वैहैं षेहा।।
चोवा चंदन चरचत अंगा, सो तन जरत काठ कै संगा।।
बहुत जतन करि देह मुटियाई, अगनि दहै कै जंबुक खाई।।
जा सिरि रचि रचि बाँधत पागा, ता सिरि चंच सँवारत कागा।
कहि कबीर सब झूठा भाई, केवल राँम लह्यौ ल्यौ लाई।।

17.6 मुक्त मनुष्य का स्वरूप

कबीर ने इस पर भी विचार किया है कि मुक्त मनुष्य कैसा होता है। हालांकि कबीर की दृष्टि में ऐसे मनुष्य बहुत कम होते हैं। ऐसा व्यक्ति जिसमें काम, क्रोध और लोभ की भावनाएँ नहीं होतीं-

तेरा जन एक आध है कोई।
काम क्रोध अरु लोभ बिंबर्जित, हरिपद चीन्हैं सोई।।टेक।।
राजस ताँस सातिग तीन्यूँ, ये सब तेरी माया।
चौथे पद कौं जे जन चीन्हैं, तिनहिं परम पद पाया।।
असतुति निंद्या आसा छाँड़ै, तजै माँन अभिमानाँ।
लोहा कंचन समि करि देखै, ते मूरति भगवानाँ।।
च्यंतै तौ माधौ च्यंतामणि, हरिपद रमैं उदासा।
त्रिस्ना अरु अभिमाँन रहित है, कहै कबीर सो दासा।।

ऐसा मुक्त मनुष्य तो कोई-कोई है। संसार में ये अल्पमत में हैं। कबीर चाहते हैं कि मनुष्य ऐसा ही बन जाए। ऐसे व्यक्ति में काम, क्रोध और लोभ की भावनाएँ है ही नहीं। सिर्फ भगवान के चरण कमलों पर उसका ध्यान है। राजस, तमस और सत्व इन तीनों गुणों को छोड़कर जो चौथे गुण में रहता है- उसे परम पद प्राप्त होता है। स्तुति, निन्दा और आशा का जिसमें लेशमात्र भी न हो। यहाँ तक कि सम्मान की भावना और अभिमान जिसमें बिलकुल न हो। जो लोहा और सोना को एक जैसा तुच्छ मानकर चलता हो। जो विचार सिर्फ ईश्वर का करता हो और जो हरि के चरणों में उदास रहता हो, ऐसा व्यक्ति सही अर्थों में दास है- अर्थात् वह आदर्श मनुष्य है। कबीर के अनुसार वही इस संसार की मनोवैज्ञानिक बाधाओं से मुक्त रहता है।

ऐसा व्यक्ति सभी मानवीय बुराइयों से रहित होता है। तृष्णा और अभिमान उसमें नहीं होता। यदि ध्यान से देखा जाए तो ये सारे दुर्गुण मानसिक हैं। ऐसा व्यक्ति 'आपै पुरिखा आपै नारी' है। फिर वह रहता ऐसे है जैस 'नां हम जीवत न मूवले मांही' इसी तरह कबीर उसकी अन्य विशेषताएँ बताते हुए कहते हैं-

सौ धन मेरे हरि का नांउ, गांठिए बांधौ बेचि न खांउ।।
नांउ मेरे खेती नांउ मेरे बारी, भगति करौं मैं सरनि तुम्हारी।
नांउ मेरे सेवा नांउ मेरे पूजा, तुम्ह बिन और न जानौ दूजा।।
नांउ मेरे बांधव नांउ मेरे भाई, अंत कि बेरियाँ नाँव सहाई।
नांउ मेरे निरधन ज्यूँ निधि पाई, कहै कबीर जैसे रंक मिठाई।।

दार्शनिक रूप में यहाँ कबीर कहते हैं कि सबमें हम ही हैं ओर हममें सब हैं अर्थात् यहाँ दूसरा कोई नहीं है। इसलिए तीनों लोकों में उस एक का ही प्रसार है। वही कटोरा है। वही थाली है। सदाफल वही है तो नीम्बू भी वही है। पुरुष वही है और नारी भी वही है। इसलिए हिंदू वही है तो मुसलमान भी वही है। मेरे पास न खेती है न बाड़ी है। मैं सिर्फ भगवान की भक्ति करता हूँ। न सेवा करता हूँ न पूजा करता हूँ। सब कुछ परमात्मा का नाम है। मेरा भाई-बन्धु भी कोई नहीं है। जो कुछ है वह ईश्वर है।

सामाजिक व्यवहार में ऐसा व्यक्ति दूसरे को कभी ठगता नहीं। भले ही दूसरे उसे ठग लें, दूसरों के ठगने से दुःख भी होता है। ऐसे ही व्यक्ति की हरि से भेंट हो सकती है जिसने अपना 'आपा' मिटा दिया हो। ईश्वर अहं भाव के विसर्जन से मिलता है।

17.7 राम का स्वरूप

कबीरदास अपनी कविता में 'राम' के स्वरूप का भी उद्घाटन करते चले हैं। राम के स्वरूप को जानने से पहले यह जानना आवश्यक है कि राम का निवास कहाँ है ? इस प्रश्न का उत्तर कबीर ने एक साखी में दिया है-

कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूंढै बन माँहि।
ऐसै घटि घटि राम हैं, दुनियाँ देखै नाँहिं।।

एक हरिण होता है, जिसकी नाभि में कस्तूरी होती है। कस्तूरी की जब सुगन्ध फैलती है, तब हरिण उसे जंगल में ढूढ़ता है कि यह सुगन्ध कहाँ से आ रही है ? अब हरिण को यह पता नहीं है कि कस्तूरी तो उसकी ही नाभि में है। उस हरिण की तरह यह दुनिया भी नादान है, क्योंकि राम तो प्रत्येक 'घट' में अर्थात् प्रत्येक जीवित शरीर में व्याप्त है। परन्तु, नादान मनुष्य उसे बाहर ढूँढता रहता है। कबीर का मानना है कि मुक्ति की साधना कोई मुश्किल काम नहीं है। वह तो अपने भीतर ही है।

रहस्यवादी उक्तियों और उलबाँसियों में कबीर ने राम के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया है। उन उक्तियों को कबीरदास कभी-कभी बहुत सरल करके भी कहते हैं। हालाँकि वे कहते हैं कि जो सचमुच में पण्डित होगा- समझदार होगा, वही इसे समझ पाएगा। मूर्ख लोग इसे नहीं समझ पाएँगे। कबीर के 'राम' कैसे हैं :

> पंडित होइ सु पदहि बिचारै, मूरिष नाँहिन बूझै।
> बिन हाथनि पाँइन बिन काँननि, बिन लोचन जग सूझै।।टेक।।
> बिन मुख खाइ चरन बिनु चालै, बिन जिभ्या गुँण गावै।
> आछै रहै ठौर नहीं छाड़ै, दह दिसिहीं फिरि आवै।।
> बिनहीं तालाँ ताल बजावै, बिन मंदल षट ताला।
> बिनहीं सबद अनाहद बाजै, तहाँ निरतत है गोपाला।।
> बिनाँ चोलनै बिनाँ कंचुकी, बिन हीं संग संग होई।
> दास कबीर औसर भल देख्या, जाँनैगा जस कोई।।

लौकिक अनुभवों के संदर्भ में राम के स्वरूप का विवेचन करते हुए कबीर कहते हैं। किसी वस्तु को बताने के लिए लोक में वजन एक पैमाना होता है। कोई वस्तु भारी होती है या हल्की होती है। फिर उसको नाप तौल कर बता दिया जाता है कि अमुक वस्तु कितनी भारी है ? इस समझ और कबीर के अनुभव के बीच कोई तालमेल नहीं हैं। अतः कबीर कहते हैं'-

> भारी कहौं त बहु डरौं, हलका कहूँ तो झूठ।
> मैं का जाँणों राम कूँ, नैनूँ कबहूँ न दीठ।।

> दीठा है तो कस कहूँ, कह्या न को पतिचाई।
> हरि जैसा है तैसा रहौ, तूँ हरिषि हरिषि गुण गाइ।।

इन साखियों में कबीर 'हरि' की छवि को वर्णित करते हैं। 'हरि' या 'राम' न भारी है, न हल्का है ये उसका वर्णन कर ही नहीं कर सकते क्योंकि आंखें तो उनकी लौकिक है। लौकिक आखों में वह अपरिमित छवि कैसे समाहित हो सकती है ? इसलिए मैं अपनी पराजय स्वीकार कर लेता हूँ। मैंने इन आँखों से उसे कभी देखा ही नहीं। मान लो मैंने 'हरि' को देख लिया। तो भी मैं कहूँ कैसे ? मेरे शब्दों में यह सामर्थ्य ही नहीं है कि उस परमात्मा का वर्णन कर सकूं। फिर भी यदि मैंने 'कह' दिया तो भी उसका विश्वास कौन करेगा ? इसलिए इस विवाद में न पड़ते हुए अपना काम करते हैं। हरि जैसा है, वैसा ही रहो। रहने दो। इस विवाद को छोड़कर प्रसन्न हो-होकर उनके गुणों का गान करो। यही हमारे वश में है। इसलिए यही मैं करता हूँ और यही तुम भी करो।

इसी तरह एक प्रश्न यह भी उठता है उस अविगत की गति का बयान कैसे करें। यहाँ कबीर एक प्रश्न करते हैं। अच्छा यह बताओ कि पहले गगन बना या पहले पृथ्वी ? पहले पवन का अस्तित्व हुआ या अग्नि का ? सूर्य पहले आया या चन्द्रमा ? पूरी सृष्टि के निर्माण की प्रक्रिया क्या रही होगी ?

> राम राइ अविगत विगति न जानै, कहि किम तोहिं रूप बखानै।
> प्रथमे गगन कि पुहमि प्रथमे प्रभू पवन कि पाँणीं।
> प्रथमें चंद कि सूर प्रथमे प्रभू, प्रथमे कौन बिनाँणीं।।
> प्रथमें प्राँण कि प्यंड प्रथमें प्रभू, प्रथमे रकत कि रेत।
> प्रथमे पुरिष की नारि प्रथमे प्रभू, प्रथमे बीज की खेत।।
> प्रथमे दिवस कि रैणि प्रथमे प्रभू, प्रथमे पाप कि पुन्य।
> कहै कबीर जहाँ बसहु निरंजन, तहाँ कुछ आहि कि सुन्य।।

परमपिता परमेश्वर सामान्य लौकिक मनुष्य जैसा नहीं है। लौकिक मनुष्य के हाथ, पाँव, कान, आँख सब होते हैं। इन इन्द्रियों के द्वारा वह संसार को जानता-समझता हैं परन्तु परमात्मा के लिए यह बाध्यता नहीं है। वह तो बिना मुँह के भी खा सकता है और बिना पाँवों के भी चल सकता है। बिना जीभ के ही वह बोल सकता है। अतः उसे लौकिक मनुष्य के संदर्भ में समझने की जरूरत नहीं है। वह तो इन सबसे इतर है। अलग है निरपेक्ष है।

17.8 सारांश

इस इकाई में आपने कबीर की कविता में मानवमुक्ति की धारणा से संबंधित प्रमुख बिन्दुओं का अध्ययन किया। कबीरदास ने मुक्ति के बहुत सारे उपायों का वर्णन अपने काव्य में किया है। कबीर मानते हैं कि मनुष्य किसी दूसरे को मुक्त नहीं कर सकता अर्थात सुधार नहीं सकता। दूसरा व्यक्ति अपनी प्रवृत्ति के अनुसार ही चलेगा और कबीर के अनुसार नरक की यातना भोगेगा। उसे अपने कर्मों का फल अवश्य मिलेगा। कबीर ने कर्म फल वाद में विश्वास किया था इसलिए उनके यहाँ स्थान पर सत्कर्म पर बल दिखाई देता है। इसी सत्कर्म को उन्होंने मुक्ति का मार्ग बताया। यह सत्कर्म व्यक्ति स्वप्रेरणा और स्वविवेक से ही करता है। जिन लोगों का चित्त शुद्ध नहीं है, अनेक विकार हैं, पाप करते हैं, षड्यन्त्र करते रहते हैं, वे कभी मुक्त नहीं हो सकते।

राम के इस रूप के कारण कबीर धर्म और मुक्ति सम्बन्धी सभी कर्मकाण्डों को खारिज कर सके। राम न मन्दिर में है न मस्जिद में। इसका अर्थ हुआ कि तीर्थस्थान की व्यवस्था सम्बन्धी जितने भी कार्य हैं- पूजा-पाठ, पुजारी, भेंट, दान-दक्षिणा आदि इन सब से जुड़ी हुई सभी चीजें बेमानी है। इसलिए कबीर कह सके कि यदि पत्थर के पूजने से (अर्थात् मूर्तिपूजा से) भगवान प्राप्त होते हैं तो मैं पहाड़ को पूज सकता हूँ। इससे तो यह आटा पीसने वाली चक्की अच्छी है जिससे संसार अनाज पीसकर खाना खाता है। इसी तरह कंकर-पत्थर जोड़कर मस्जिद बनाई। फिर उस पर चढ़कर मुल्ला बांग देता है। क्या खुदा बहरा हो गया है ? इस तरह धर्म के नाम पर किए गए सभी तरह के कार्यों का कबीर विरोध करते हैं। उस समय धर्म ही, धार्मिक क्रियाकलाप ही मुक्ति की राह दिखाते थे। कबीर ने इस एक दार्शनिक अवधारणा से सभी प्रचलित मान्यताओं का खण्डन कर दिया है। यह दुर्लभ है। जिस प्रकार पेड़ से फल टूट जाने के बाद वह वापिस पेड़ पर लग नहीं सकता, उसी प्रकार मृत्यु के बाद आप दुबारा उस देह को प्राप्त नहीं कर सकते।

17.9 अभ्यास प्रश्न

1. कबीर के अनुसार मुक्ति का क्या अर्थ है ? भारतीय चिन्तन में मान्य पुरुषार्थ से यह किस तरह से अलग है ?

2. कबीर के दार्शनिक विचारों का आधार स्पष्ट कीजिए।

3. लौकिक मनुष्य और मुक्त मनुष्य में क्या अन्तर है ? क्या मुक्त मनुष्य सम्भव है ? अपने विचार व्यक्त कीजिए।

4. कबीर के मुक्ति सम्बन्धी विचारों से आप कहाँ तक सहमत या असहमत हैं ?

5. कबीर और तुलसी के राम का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

इकाई 18 कबीर का ऐतिहासिक अवदान

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 इतिहास और साहित्यिक अवदान

18.3 अपने युग को कबीर का अवदान

18.3.1 भक्तिकालः नवीन आरंभ या परंपरा का विस्तार

18.3.2 भक्तिकाल में कबीर

18.3.3 कबीर की आध्यात्मिक चेतना और सामाजिक चेतना का पारस्परिक संबध

18.4 स्वाधीनता आंदोलन और कबीर

18.5 अस्मिता-विमर्श और कबीर

18.5.1 दलित-विमर्श में कबीर

18.5.2 स्त्री-विमर्श में कबीर

18.6 सारांश

18.7 अभ्यास प्रश्न

14.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ कर आपः

- इतिहास के निर्माण, साक्ष्य एवं सत्यापन में साहित्य का अवदान तथा साहित्य की समझ और विश्लेषण में इतिहास की भूमिका बता सकेंगे;
- पिछले दो सौ वर्षां में कबीर के विविध मूल्यांकनों में तरह-तरह के मतभेदों का इतिहास और इन मूल्यांकनों के अनुसार कबीर के अवदान का भी बदलता हुआ प्रत्यय समझा सकेंगे; और
- कबीर के उदाहरण से साहित्य के कालजयी ऐतिहासिक अवदान की अवधारणा स्पष्ट कर सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

आज हम भक्तिकाल को भारत के प्रथम नवजागरण के रूप में और कबीर को असंदिग्ध रूप से न केवल हिन्दी, बल्कि सम्पूर्ण साहित्य के ऐसे कवि के रूप में पहचानते हैं जो एक वैश्विक व्यक्तित्व अर्जित कर चुका है। पश्चिम में कबीर पर जितना काम हुआ हिन्दी के अन्य किसी कवि पर नहीं। विभिन्न आलोचकों ने उनके अवदान को अपनी-अपनी तरह से देखते हुए अलग-अलग रूप में पहचाना और परिभाषित किया है। इनमें आरंभ से लेकर अब तक अनेक विदेशी विद्वान भी शामिल रहे हैं। कबीर-वाणी-पीयूष के सम्पादक-द्वय जयसिंह तथा वासुदेव सिंह के शब्दों में 8वीं शताब्दी से ही कबीर की वाणी

यूरोप में गूँजने लगी थी। 1758 में इटैलियन साधु पाद्रे देला तोम्बा ने 'ज्ञानसागर अथवा सतनाम कबीर' का इटैलियन भाषा में अनुवाद किया था। बीसवीं शताब्दी में डब्ल्यू प्राइस, जेनरल हैरेट, एच.एच. विल्सन, गार्सा द तासी, हण्टर, ई. ट्रम्प, ग्रियर्सन, वेस्टकाट मेकालिफ, अण्डरहिल, एफ. ई. के, ब्रिग्ज, स्मिथ, पिन्कॉट आदि विद्वानों ने कबीर की रचनाओं का पाठानुसंधान, सम्पादन, अनुवाद, समीक्षा आदि के काम किए थे, आज तक यह सिलसिला टूटा नहीं है।

परिणाम यह कि कबीर के मर्म को खोलने की कोशिश में अनेक मत-मतान्तरों का जन्म हो चुका है। इस तरह उनकी आलोचना और मूल्यांकन का अपना एक इतिहास बन चुका है। आज हमारे पास कबीर को पढ़ने की अनेक दृष्टियाँ और कवि कबीर की अनेक छवियाँ हैं। हर पाठक कबीर के पाठ की अपनी व्याख्या के अनुसार अपने लिए अपनी कबीर-छवि की तलाश कर सकता है– कोई नितान्त व्यक्तिगत तो कोई भौतिक ऐतिहासिक प्रमाणसम्मत। और यह देखना रोचक है कि परस्पर विरोधी छवियाँ भी एक साथ भौतिक ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक मानी जा सकती हैं।

इस इकाई में इन अनेक मूल्यांकनों के अनुसार कबीर के व्यापक-विस्तृत ऐतिहासिक अवदानों का परिचय दिया रहा है।

18.2 इतिहास और साहित्यिक अवदान

साहित्य के अध्ययन के लिए कबीर जितने महत्वपूर्ण हैं, उतने ही इतिहास के अध्ययन के लिए भी। साहित्य और इतिहास के अध्ययनों का एक दूसरे के साथ गहरा सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध का रूप केवल इतना नहीं कि साहित्य का अपना इतिहास होता है बल्कि यह भी कि इतिहास के लिए भी साहित्य एक महत्वपूर्ण साक्ष्य का काम करता है। 'साहित्य समाज का दर्पण है,' 'साहित्य समाज का दीपक है' 'साहित्य समाज को रास्ता दिखाने वाली मशाल है' आदि अनेक बातें इतनी परिचित और प्रचलित हो चुकी हैं कि समाज में साहित्य की भूमिका और परिभाषा के रूप में सूक्तियों का रूप धारण कर चुकी हैं। 'साहित्य समाज का दर्पण है' को साहित्य और समाज के बीच भौतिक ऐतिहासिक सम्बन्ध का द्योतक माना जाता है लेकिन अब वस्तुतः यह समझा जा चुका है कि साहित्य और समाज का रिश्ता केवल दर्पणवत नहीं बल्कि बहुरूपी और अनेकार्थी हो सकता है। उसमें आलोचना, संशोधन, सहमति, असहमति, विरोध, समर्पण, अतिरंजना आदि अनेक अर्थछवियाँ समाई हो सकती हैं और सावधान पढ़न्त और व्याख्या से उनके भौतिक ऐतिहासिक यथार्थ और वास्तविक मंशा की तलाश भी की जा सकती है। इस दृष्टि से साहित्य अब इतिहास के अध्येता के लिए अपने समाज की महत्वपूर्ण स्थानीय स्रोत सामग्री भी है और साहित्य के अध्येता के लिए सार्वभौम मानव-सत्य का निर्वचन भी।

कबीर का महत्व जितना साहित्य के लिए है, उतना ही इतिहास के लिए भी। साहित्य के इतिहास में जिसे हम भक्तिकाल कहते हैं, देश के इतिहास में अभी तक उसे मध्यकाल कहा जाता है। आदिकाल से मध्यकाल में युगान्तर की प्रक्रिया और उसमें भक्ति आन्दोलन की भूमिका को समझने के लिए इतिहास में अनेक परस्पर भिन्न व्याख्याएँ प्रदान की गई हैं। इस मतभेद का प्रभाव कबीर के विविध साहित्यिक मूल्यांकनों में भी देखा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, भक्तिकाल की ऐतिहासिक व्याख्याओं की बहस कबीर की साहित्यिक व्याख्याओं को भी प्रभावित करती है। इतिहास की इन बहसों में भी कबीर को जितना महत्वपूर्ण माना जाता रहा है, उतना भक्तिकाल के अन्य किसी कवि को नहीं।

साहित्य तथा स्थानीय स्रोतों से प्राप्त अन्य सामग्री के आधार पर अब भक्तिकाल की व्याख्या भारत में आधुनिक काल के प्रथम पदार्पण के रूप में की जा रही है और वहाँ भी

कबीर एक महत्वपूर्ण प्रमाण और साक्ष्य की तरह उपस्थित किए जाते हैं, न केवल समाज के दर्पण की तरह बल्कि समाज के निर्माता की तरह भी, न केवल अपने युग के संदर्भ में बल्कि परवर्ती इतिहास के सन्दर्भ में भी।

18.3 अपने युग को कबीर का अवदान

अवदान का अर्थ है प्रशस्त कर्म, उज्ज्वल कर्म, पराक्रम, किसी महत्वपूर्ण घटना पर बहुत दिनों से प्रचलित आख्यान जिसे निजन्धरी कथा भी कहा जाता है, अंशदान, योगदान। कबीर का रचनाकर्म इन सभी अर्थों को अपने भीतर समेटता है।

कबीर-वाणी-पीयूष की भूमिका में कबीर-काव्य के विद्वान सम्पादक-द्वय जयसिंह और वासुदेव सिंह ने कबीर की विविध छवियों तथा अनेक व्याख्याओं को समीचीन रूप में शब्दबद्ध किया है :

'हिन्दुओं के लिए वैष्णव भक्त, मुसलमानों के लिए पीर, सिक्खों के लिए भगत, कबीरपंथियों के लिए अवतार, आधुनिक राष्ट्रवादियों के लिए हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य-विधायक, नव-वेदान्तियों के लिए विश्वधर्म या मानवधर्म प्रवर्तक, प्रगतिशील तत्त्वों की दृष्टि से समाजसुधारक, जातिगत श्रेष्ठता के विरोधी, सामाजिक दृष्टि से कमजोर वर्ग के पक्षधर, क्रान्तिकारी, समता, बन्धुत्व भावना, न्याय तथा एकता के प्रतिपादक के रूप में मान्य हैं।'

इस वक्तव्य में कबीर के रचनाकार व्यक्तित्व की विभिन्न छवियों को विभिन्न समुदायों की विभिन्न अपेक्षाओं के साथ जोड़ा गया है। कबीर के पक्ष से देखिए तो पाठ की वे सारी संभावनाएँ उनमें एक साथ ही मौजूद हैं। कबीर की संवेदना का बीज इतने सब आयामों में एक साथ प्रस्फुटित होता है।

कबीर के ये मूल्यांकन आधुनिक युग में अपनी परम्परा के पुनः आविष्कार का उदाहरण हैं। लेकिन आधुनिक युग के कबीर के अवदान की बात करने के पहले देखना जरूरी है कि अपने युग के संदर्भ में उनकी भूमिका क्या थी।

18.3.1 भक्तिकाल : नवीन आरंभ या परम्परा का विस्तार

भक्तिकाल के अध्ययन का एक दृष्टिकोण इसे इतिहास में एक सर्वथा नई शुरूआत की तरह देखता है और दूसरा दृष्टिकोण इसे अपनी ही परम्परा का अध्ययन मानता है। पहला दृष्टिकोण इस नई शुरूआत को इस्लाम और ईसाइयत के साथ सम्पर्क और प्रभाव का पणिााम मानता है, दूसरे दृष्टिकोण के विद्वान यहाँ तक जाते हैं कि भारत में इस्लाम अगर नहीं आया होता तो भी भक्तिकाव्य जैसा है, पूरा का पूरा वैसा ही हुआ होता। इस पूरी बहस का विस्तृत इतिहास हमारे लिए प्रासंगिक नहीं है लेकिन कबीर के मूल्यांकन के लिए इसका जितना अंश पर्याप्त है उतने का विवेचन उपयुक्त होगा।

प्रसिद्ध इतिहासकार इरफान हबीब ने भारतीय समाज में इस्लाम के आगमन और सम्पर्क के परिणामों और रूपों का आकलन किया है। मुरली मनोहर प्रसाद सिंह ने इस स्थिति की मीमांसा में कहा है, 'पेशेवर जातियों में तेली, कुम्हार, दर्जी, जुलाहे, बनिये, चमार – सभी को नगरों के नये सिरे से उत्थान की प्रक्रिया में सामंती उत्पादन सम्बन्ध से छूट निकलने के अवसर मिल रहे थे ....शाही दरबारों के अमीरों के लिए रंगबिरंगे कपड़े, मन्दिर मस्जिद बनाने, जगह-जगह सड़क, आलीशान इमारतें और सराय बनाने की आवश्यकताओं के कारण नये सिरे से नगर-निर्माण की नीति लागू की गयी। नगरों में भिन्न-भिन्न पेशेवर जातियों के समूह बनने लगे।'

विजेता संस्कृति जब विजित क्षेत्र में अपने टिकने के लिए जगह बनाती है तो उसके साथ प्रजा के रूप में सम्पर्क की किसी भी स्थिति में ये रूप और परिणाम सामान्यतः स्वाभाविक ओर अनिवार्य हो सकते हैं। नए शासकवर्ग का उदय हुआ। उसकी आवश्यकताओं के अनुकूल नए बाजार का उदय हुआ, नए पेशों का उदय हुआ, कई बार ये नए पेशे जाति से स्वतंत्र होकर भी विकसित होते दिखाई देते हैं। उत्पादन में वृद्धि हुई। गुलामों को नए पेशों में प्रशिक्षित करने के भी उदाहरण हैं। लेकिन ध्यान रखना चाहिए कि गुलाम की धारणा भारत में वही नहीं रही जो यूरोप के देशों में थी। यूरोप में वह अपने मालिक का जरखरीद गुलाम होता था, जबकि यहाँ गुलाम वंश का शासन भी स्थापत हुआ। शिल्पियों, दस्तकार जातियों के सम्मान में वृद्धि हुई। विशेष दक्षता को राजकीय सम्मान भी प्रदान करने की प्रथा हुई। इन परिस्थितियों में, कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि जातिप्रथा में हलचल हुई और कबीर की वाणी में अपने जुलाहाजन्म का जो अभिमान सुनाई देता है, मुल्ला, पाण्डे, अवधू के लिए जो आत्मविश्वास पूर्ण ललकार और चुनौती का स्वर है उसकी पृष्ठभूमि में यही हलचल देखी जा सकती है।

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह ने इन भौतिक परिस्थितियों को कबीर की कविता से जोड़ते हुए कहा है – 'धीर-धीरे युगान्तर के घटक के रूप में उदित हो रही नयी तकनीकों, नगर-निर्माण आदि ने वर्णाश्रम और ब्राह्मणवादी वर्चस्व को चुनौती देने के लिये नयी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी थीं। सांसारिक सुखवैभव से वैराग्य की भावना, जीवन की क्षणभंगुरता का बोध, जगत को काल का चबेना कहने की प्रवृत्ति, इंसान-इंसान के बीच समानता की पुकार, नैतिक आचरण से भी पूरी सादगी का जीवन, कर्मकाण्ड का खण्डन – ये सारे तत्त्व एक नयी ज्ञान मीमांसा के अंग बन कर प्रकट हुए। ज्ञानार्जन की यह प्रक्रिया पुरानी दुनिया के स्वामियों द्वारा रचे गए संस्कारों से मुक्ति पाए बिना अपनी परिणति पर पहुँच ही नहीं सकती थी। कबीर का यह ज्ञानमार्ग नयी विवेक चेतना का आह्वान करता है। निरगुनिया सन्तों के लिए ही नहीं, सम्पूर्ण मानवजाति के लिये आत्मसंघर्ष और ज्ञानार्जन की प्रक्रिया में द्वन्द्व की आवश्यकता निम्नलिखित दोहे में साफ बताई गयी है':

> जा घट जान–विजान है; तिहिं घट आवंटना घना।
> बिन खाण्डे संग्राम है, नित उठि मन सों जूझना।।

अर्थात जिस हृदय में ज्ञान-विज्ञान का बसेरा है उसी हृदय में आवंटन – बँटवारा, आत्म-विभाजन या अन्तर्द्वन्द्व भी सघन है। नित उठ अपने मन से जूझना मानों बिना तलवार के ही लड़ते रहने के समान है। इसका आध्यात्मिक अर्थ यह है कि मन को माया भी खींचती है और ज्ञान भी आकर्षित करता है। दोनों का ही खिंचाव प्रबल है, मन दोनो में बँट जाता है और अपने साथ ही जूझता रहता है।

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह इस आन्तरिक द्वन्द्व को ज्ञानार्जन की प्रक्रिया में द्वन्द्व से जोड़ कर पढ़ते हैं। उनके इस वक्तव्य में स्पष्टतः भक्तिकाल को एक नयी दुनिया का प्रारंभ बताया गया है जिसके पहले पुरानी दुनिया के स्वामियों द्वारा रचित संस्कारों से मुक्ति पाना जरूरी था। इस नयी दुनिया का जन्म नयी भौतिक परिस्थितियों से हुआ था। उन्होंने एक नयी ज्ञान-मीमांसा की ओर इशारा तो किया है लेकिन परिस्थितियों और ज्ञान-मीमांसा के स्वरूप में तालमेल न होने की कोई विवेचना नहीं की गयी है। परिस्थितियाँ अगर सुख के अनुकूल थी तो ज्ञान-मीमांसा में सांसारिक सुख से वैराग्य की भावना क्यों थी?

दूसरा मत यह मानता है कि भक्तिकाल कोई नया आरंभ नहीं बल्कि पहले से चली आती परंपरा का विस्तार है जिसके सूत्र उपनिषदों तक जाते हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास

में भक्तिकाल के उद्भव के विषय में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के इस मत का परिचय आपने पाया होगा। इसके अनुसार इन 'नयी परिस्थितियों' से उत्पन्न 'नयी ज्ञान मीमांसा' वस्तुतः नयी नहीं थी। कबीर की संवेदना और चेतना पहले से चली आती एक परंपरा का ही अंग, विकास, विस्तार और अभिव्यक्ति है। भारत में वर्णव्यवस्था की पुरानी परम्परा रही है, सब जानते हैं, लेकिन वर्णव्यवस्था व ब्राह्मणवादी वर्चस्व को चुनौती की भी लम्बी पुरानी परम्परा मौजूद रही है। डॉ. रामविलास शर्मा का कहना है कि कबीर काव्य के सन्दर्भ में '...भागवत की भी चर्चा होनी चाहिए जिसने भक्ति द्वारा अंत्यजों, समाज के बहिष्कृतों आदि के मुक्ति पाने का दावा किया था ...पण्डितों और कर्मकाण्डी विद्वानों पर व्यंग्य करने की प्रथा भी भागवत के लिये नयी नहीं है.. इसके सिवा वर्ण-व्यवस्था और शास्त्रों का विरोध भी उतना पुराना है जितना यह व्यवस्था और उसके समर्थक शास्त्र पुराने हैं। भारत में स्वतंत्र चिन्तन की कभी कमी नहीं रही।'

इन बदली हुई परिस्थितियों के साहित्यिक प्रमाण की तरह पुरुषोत्तम अग्रवाल ने तुलसीदास को उद्घृत किया है– 'तुलसीदास का कलिकाल वर्णन यह बताता है कि उनके समय में व्यापार के कारण नयी जातियाँ बन रही हैं, वर्ण-व्यवस्था को चुनौती मिल रही है। नवोदित जातियों को उनकी आर्थिक ताकत के आधार पर उच्च मानने के लिए वर्ण-व्यवस्था के समर्थक विवश हैं। विवश वे तलवार की ताकतवालों को क्षत्रिय मानने के लिये भी हैं - भले ही कल तक उन्हें निम्नकुलोत्पन्न मानते रहे हों। विवश वे 'वर्णश्रम-बाह्य' आदिवासियों-गोंडों-को सफल राजा बनते देखने के लिए भी हैं। विवश वे शूद्रों को गुरुरूप में समाहत देखने के लिए भी हैं। और ऐसी बहुआयामी विवशता को ही वे कलियुग का नाम दे रहे हैं– व्यापार के विकास का वह समय उन्हें धर्म की हानि का समय भी दिख रहा है, जिसमें शूद्र ब्राह्मणों को डाँट रहे हैं, स्त्रियाँ पुरुषों से जिरह करने की हिम्मत कर रही हैं, और आदिवासी छत्रधारी गोंड राजा बन रहे हैं।, 'तुलसीदास का कलियुग संबंधी विलाप अभूतपूर्व नहीं है। भारतीय इतिहास मे जब-जब सामाजिक गतिशीलता दिखाती है, तब-तब कलियुग सम्बन्धी विलाप भी दिखता है – विष्णु पुराण से लेकर रामचरित मानस तक। विलाप दैनान्दिन जीवन की परिवर्तनशीलता को बताने वाला और ब्राह्मणों के अबाध निरन्तर वर्चस्व के मिथकों को तोड़ने वाला साक्ष्य है।'

हमारे इस विवेचन का उद्देश्य परम्परा की अगली कड़ी के रूप में कबीर के विचार को रेखांकित करना है। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार वर्ण-व्यवस्था और उसके शास्त्रों का विरोध भी उतना पुराना है जितना यह व्यवस्था और उसके समर्थक शास्त्र पुराने हैं।' पुरुषोत्तम अग्रवाल के अनुसार भी 'भारतीय इतिहास में जब-जब सामाजिक गतिशीलता दिखती है, तब-तब कलियुग विलाप भी दिखता है – विष्णु पुराण से लेकर रामचरित मानस तक।' यानी ईसा की दूसरी तीसरी शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक कलियुग विलाप और सामाजिक गतिशीलता बरकरार रही है। इस दृष्टि का निष्कर्ष यह है कि कबीर इस परम्परा की चरम काव्यात्मक परिणति है। यही मानना उचित भी है। कोई भी नवीन उन्मेष सांस्कृतिक और वैचारिक शून्य में से जन्म नहीं लेता। उसका एक सिरा अपनी भौतिक सामाजिक परिस्थितियों से जुड़ा होता है तो दूसरा अतीत और परम्परा से विद्रोह भी परम्परा से जुड़ने का और परम्परा में नया कुछ जोड़ने का ही एक तरीका है। इसी कारण परम्परा रूढ़ि से भिन्न और उसके विपरीत होती है। रूढ़ि परम्परा का जड़ और मृत रूप है जबकि परम्परा स्वयं जीवन्त, परिवर्तनशील और नवोन्मेषशालिनी होती है। कबीर इसके प्रबल उदाहरण हैं। इन दोनो ही विचारों में आंशिक सत्य विद्यमान है और दोनों के योग से ही सत्य सम्पूर्ण होता है। सत्य यह है कि यह ज्ञान मीमांसा अपने स्वरूप में परम्परागत है और इसका यह अध्याय परिस्थितियों के दबाव से उत्पन्न नया उन्मेष है।

18.3.2 भक्तिकाल में कबीर

अपने युग को कबीर के अवदान की चर्चा उन्हीं के युगवासी, उनके गुरुभाई पीपा के शब्दों में इस प्रकार है –

जौ कलिनाम कबीर न होते
तौ लोकबेद अरु कलिजुग मिलि करि भगति रसातल देते।

कबीर ने लोकबेद और कलियुग के प्रहार से भक्ति को बचाया। कबीर की भक्ति में ऐसा क्या अर्थ है कि उसे अपने युग के सन्दर्भ में कबीर का अवदान– प्रशस्त कर्म, उज्ज्वल कर्म, पराक्रम, निजन्धरी तथा इत्यादि – मान लिया जाय? कबीर के काव्य को आद्योपान्त देखें तो नतीजा यह निकलेगा कि भक्ति उनके समस्त कर्मों का मूल है, ऐसा मूल जिससे उनकी पूर्वोक्त सभी छवियों की शाखाएँ निकलती हैं और एक के भीतर अनेक कबीरों के दर्शन कराती हैं। उनकी भक्ति अपने भीतरवासी और जगमय प्रियतम के प्रति अहैतुकी, निष्कारण, निष्प्रयोजन, निस्वार्थ तन्मय समर्पण है जिसमें जितना तन्मय उतना ही तत् का मन्मय हो जाना भी शामिल है। इसके अनुभवात्मक रूप को उतनी ही सच्चाई के साथ अहैतुकी, निष्कारण, निष्प्रयोजन, तन्मय और मन्मय प्रेम भी कहा जा सकता है। यह मम और जीवन-जगत की अखण्डता की, ऐसी चरम परम ऐक्य की अनुभूति है जो बाकी सब कुछ की कसौटी बन जाती है। जो कुछ भी इस सत्य को, इस चरम परम ऐक्य को खण्डित करता या उसके विरुद्ध पड़ता है वह उनके लिए प्रहार का विषय बन जाता है, चाहे वह ज्ञान का गुमान हो, चाहे धार्मिक मतान्तर, चाहे पाखण्ड और बाह्यचार। उनके अपने युग के लिए स्वयं भक्ति भी एक अवदान थी। जो युग और युगीन वातावरण उन्होंने विरासत में पाया उसका चित्र खींचते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल को उद्धृत किया है :

बौद्ध धर्म के विकृत रूप वज्रयान का प्रभाव भारत के पूर्वी भागों में बहुत दिनों तक कायम रहा। इन बौद्ध तांत्रिकों के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा तक पहुँचा। ये लोग सिद्ध कहलाते थे और अलौकिक शक्ति संपन्न समझे जाते थे वज्रयानियों की योगतंत्र साधनाओं में मद्य तथा स्त्रियों का ...अबाध सेवन एक आवश्यक अंग था। ...देश के पूर्वी भागों में धर्म के नाम पर बहुत दुराचार फैला था...नाथपंथियों ने वज्रयानियों के वीभत्स अश्लील विधानों से अपने को अलग रखा लेकिन हठयोग का सहारा लिया...उनकी रचनाएँ तांत्रिक विधान, योगसाधना, आत्म निग्रह, श्वासनिरोध भीतरी चक्रों और नाड़ियों की स्थिति, अंतर्मुख साधना के महत्व इत्यादि की सांप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं; जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से इनका कोई सम्बन्ध नहीं। ...जनता की दृष्टि को आत्मकल्याण और लोककल्याण विधायक सच्चे कर्मों की ओर ले जाने के बदले उसे वे कर्मक्षेत्र से ही हटाने में लग गये थे। ...अपनी रहस्यदर्शिता की धाक जमाने के लिए वे बाह्यजगत की बातें छोड़ घट के भीतर के कोठों की बातें बताया करते थे।

निष्कर्षतः सिद्धों-योगियों की रचनाएँ जीवन से विमुख थीं, उनमें या तो वामाचार था या हठयोग, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियाँ नहीं। यह निर्गुणकाव्य की पूर्व परम्परा थी। इनके अलावा भी विरासत में प्राप्त परम्परा में 'कर्म तो अर्थशून्य विधि-विधान तीर्थाटन और पर्व-स्नान इत्यादि के संकुचित घेरे में बहुत कुछ पहले से बद्ध चला आता था।'

इस पृष्ठभूमि में भक्ति के मूल्य का आकलन किया जाए तो वह शुष्क आचारप्रवण निष्क्रिय जीवन में प्राणरस का संचार है, व्यर्थता के शून्य में सार्थकता का अहसास फूँकने वाली जीवनी शक्ति है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'राम और उनकी भक्ति-ये ही रामानन्द की कबीर को देन है। इन्हीं दो वस्तुओं ने कबीर को योगियों से अलग कर

दिया, सिद्धों से अलग कर दिया, पंडितों से अलग कर दिया, मुल्लाओं से अलग कर दिया। इन्हीं दो को पाकर कबीर 'वीर' हो गये-सबसे अलग, सबसे ऊपर, सबसे विलक्षण, सबसे सरस, सबसे तेज।'

18.3.3 कबीर की आध्यात्मिक चेतना और सामाजिक चेतना का पारस्परिक संबंध

कबीर ने अपने युग को जो दिया वह भक्ति का अनुषंग है। और जिस पर वे प्रहार करते हैं वह इस भक्ति-अखण्डता की अनुभूति के विरुद्ध है। देखा जाए तो उनकी आध्यात्मिक चेतना का ही विस्तार और व्यवहार है। यह अखण्डता अपने भीतर के संसार और बाहर की दुनिया में एकत्व की अनुभूति है –

भीतर हूँ तो जगमय लाजे। बाहर कहूँ तो झूठा लौं।।
बाहर भीतर सकल निरन्तर। गुरु परतापैं दीठा लौं।।

इसीलिए वे देख पाते हैं कि अलग-अलग नामों से पुकारा जाने वाला आराध्य एक ही शुभ्र, निष्कलुष अखण्ड अस्तित्व है–

एक निरंजन अलह मेरा, हिन्दू तुरुक दुहूँ नहिं मेरा।
तथा
हमारे राम–रहीम–करीमा, कैसौ–अलह राम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई।।

इसीलिए वे बाह्याचार से घृणा करते है क्योंकि वे देख पाते हैं कि बाह्याचार न केवल मिथ्याडम्बर है, बल्कि भेदभाव और वैमनस्य की जड़ भी। इसी के कारण अखण्डता का साक्षात्कार असंभव हो जाता है –

इनके काजी मुलाँ पीर पैगम्बर, रोजा-पछिम-निबाजा।
इनके पुरुब-दिसा देव-दिज पूजा, ग्यारसि गंग दिवाजा।।

तुरुक मसीत देहुरे हिन्दू, दुहूंठा राम खुदाई।
जहाँ मसीत देहुरा नाहीं, तहाँ काकी ठकुराई।।

– इन (मुसलमान) के पास काजी, मुल्ला पीर और पैगम्बर हैं, रोजा और पश्चिम-दिशा का पूजन है। इन (हिन्दू) के पास पूर्व-दिशा देवता और द्विज की पूजा, एकादशी और गंगास्नान है। तुर्कों के पास मस्जिद हिन्दुओं के पास मन्दिर हैं, दोनों ही राम की खुदाई-सृष्टि हैं। जहाँ न मस्जिद है न मन्दिर वहाँ किसका प्रभुत्व है?

लेकिन कबीर इस अखण्डता को, सम्पूर्ण सृष्टि के जीवन रहस्य को अपने अनुभव से, भीतर से भोग कर बाहर से जानते हैं और कहते हैं–

कहै कबीर दास फकीरा, अपनी रहि चलि भाई।
हिंदू तुरुक का करता एकै, ता गति लखी ना जाई।।

इसलिए वे पूज्य प्रतिमा का स्थानापन्न पहाड़ और चाकी को, मस्जिद के अस्तित्व को काँकर-पाथर के जोड़-जमा की तरह देख पाते हैं और इसीलिए पहचान पाते हैं कि सम्पूर्ण सृष्टि, सृष्टि का हर प्राणी जीवन के एक ही सूत्र से बँधा हुआ है–

दाया दिल में राखिये, तू क्यों निरदय होय।
साईं के सब जीव हैं, कीरी कुंजर सोय।।

इसीलिए वे अखण्ड के साक्षात्कार को आचार-व्यवहार से जोड़ते हैं और सन्त के स्वभाव को परिभाषित करते हैं–

पखा पखी के पेखणे सब जगत भुलानाँ।
निरपख होई हरि भजै सो साध सयाँना।।
निरवैरी निहकामता साईं सेती नेह।
विषया सूँ न्यारा रहे संतन की गति एह।।

'पखापखी के पेखणे' यानी मेर-तेर का, पक्ष-विपक्ष का दर्शन और 'पख छाँड़े' का अर्थ इस पक्षपात से विमुख निष्पक्षता। निष्पक्षता का अर्थ केवल सत्य की पक्षधरता। यह निष्पक्षता संत का लक्षण है। 'साईं सेती नेह' को 'साईं के सब जीव है' और 'तू क्यों निरदय होई' के साथ जोड़ कर पढ़िये तो इस 'नेह' का मतलब कीरी कुंजर तक सबके साथ – नगण्य से लेकर विशद तक – सृष्टि के हर कण के साथ हार्दिक सम्बन्ध का बन्धन है। यह हार्दिकता का अतिरेक है जो उमड़ कर और छलक कर सबको समान भाव से स्पर्श करना चाहता है।

उनकी भक्ति और समर्पण के आनन्द और पीड़ा को हम उनकी व्यक्तिगत आनन्दानुभूति और पीड़ा मान लें तो भी उसके ये अनुषंग जिन्हें हम प्रायः समाजसुधारक और उपदेशक के रूप में उनकी पहचान से नत्थी कर देते हैं, निस्संदेह उनका अपने युग और समाज को एक प्रकट और प्रत्यक्ष अवदान है। उनके समय तक इस देश में इस्लाम के प्रवेश को लगभग तीन सौ वर्ष हो चुके थे। मुठभेड़ और मुकाबले की अव्यवस्था और अराजकता के बाद सामंजस्य और समन्वय की प्रक्रिया का आरंभ होने लगा था। कबीर की आध्यात्मिक अनुभूति का व्यवहार-पक्ष इस सामंजस्य की प्रक्रिया के लिए एक दार्शनिक आधार देता है और दूसरी ओर मनुष्यता के आदर्श के रूप में सन्त के स्वभाव की व्याख्या को गहराई में ले जाकर देखें तो शोषण के विरुद्ध मनुष्य की प्रतिमा की पीठिका भी खड़ी होती है।

18.4 स्वाधीनता आन्दोलन और कबीर

कबीर का अपना ठोस प्रामाणिक अवदान इतिहास में उनके होने का प्रामाणिक साक्ष्य तो उनका अपना काव्य ही है। कबीर भक्तिकाल के ऐसे कवि हैं जो अपने आधुनिक भावबोध से आधुनिक मन को विस्मित/चकित/चमत्कृत करते हैं। उनके नाम से अभिहित काव्य-प्रवाह में बहुत कुछ ऐसा भी है जो उनके नाम से प्रचलित होकर भी उनके द्वारा लिखित नहीं हो सकता। कुछ पद ऐसे हैं, जिनके विषय में ऐतिहासिक प्रमाण से यह निश्चित किया जा सकता है कि वे कबीरकृत नहीं हैं लेकिन बहुत से ऐसे भी हैं जिनके विषय में निश्चयपूर्वक अधिक से अधिक ऐसा ही कहा जा सकता है कि वे किसी प्रामाणिक पाण्डुलिपि में नहीं मिलते। ऐसा बहुत संभव है कि वे वाचिक-परम्परा के प्रवाह में ही चलते आए हों और कभी लिपिबद्ध न हुए हों। यह भी हो सकता है कि किसी परवर्ती कवि का कबीर के प्रति भक्तिमय समर्पण हो। लेकिन वे लोकप्रवाह में कबीर के नाम के साथ बहुत निश्चयात्मक रूप में सम्बद्ध हो गये हैं। 'झीनी झीनी बीनी चदरिया', 'कौन ठगवा नगरिया लूटल हो,' 'मोको कहाँ ढूँढे तू बन्दे' जैसे प्रसिद्ध पद किसी प्राचीन पाण्डुलिपि में नहीं हैं। पुरुषोत्तम अग्रवाल ने संकेत किया है कि यह शत प्रतिशत निश्चित करना असंभव है कि कबीर काव्य में क्या और कितना कबीर का अपना है या क्या और कितना किसी और ने रचकर उनके नाम में मिला दिया है।

यहाँ इस प्रसंग का उद्देश्य कबीर की लिखन्त की प्रामाणिकता सिद्ध करने के तरीकों का विवेचन करना नहीं है, इस प्रसंग का उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि कबीर पहले से चली आती एक परम्परा का अंग थे। वह परम्परा कबीर की रचना में अपनी चरम काव्यात्मक अभिव्यक्ति तक पहुँची। उनके बाद भी उसका प्रवाह शेष रहा जिसे हम 'कबीर-चेतना' के विकास की तरह परिभाषित कर सकते हैं। अपने परवर्ती युग को कबीर का वास्तविक 'अवदान यह कबीर चेतना' ही है जो एक ओर 'व्यक्ति कबीर' को विशद करके आधुनिक भावधारा में मिलाती है और दूसरी और परम्परा की आधुनिकता का प्रमाण भी बन जाती है।

उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद को देखिये। इसे 'प्रक्षिप्त' या 'अप्रामाणिक' साबित करने के लिये किसी लम्बी चौड़ी शोध या तर्कणाशास्त्र की जरूरत नहीं है –

जहवाँ से आयो अमर वह देसवा।
पानी न पान धरती न अकसवा चाँद न सूर न रैन दिवसवा।
बाह्मन छत्री न सूद बैसवा, मुगल पठान न सैयद सेखवा।।
आदि जोत नहिं गौर गनेशवा, हम बिस्नु न महेस न सेसवा।
जोगी न जंगम न मुनि दुरबेसवा आदि अन्त न काल कलेसवा।
दास कबीर के आए सँदेसवा। सार अबद गहि चलौ वहि देसवा।।

रेखांकित शब्द 'मुगल' इसके प्रक्षिप्त होने का प्रमाण है। 'मुगल' शब्द का आगमन कबीर के जीवनकाल के बाद की घटना है। लेकिन ध्यान से देखिये, यह पद कबीर रचित होने का दावा कर ही नहीं रहा है। अन्तिम पंक्ति में यही तो कहा गया है, 'दास कबीर के आए सँदेसवा' और इसका सीधा अर्थ यही तो है कि इस पद के रचयिता ने अपने कथ्य को दास कबीर के संदेश के रूप में सुना और गुना, पाया और गाया। 'कबीर-चेतना' प्रवाह का तात्पर्य यही है कि उनका संदेश उनके बाद भी लोग सुनते और गुनते, पाते और गाते रहे।

पिछले अनुभाग में कबीर के युग के सन्दर्भ में उनके अवदान को परिभाषित किया गया था। बात उनके अपने युग के संदर्भ में जरूर है लेकिन उसका यह तत्युगीन मूल्यांकन भी आधुनिक युगीन ही है। डॉ. रामविलास शर्मा ने प्रमाण और विश्लेषण के साथ स्थापित किया है और अब यह बात कमोबेश स्वीकृत और स्थापित है कि हमारा आधुनिक युग और नवजागरण भक्तिकाल के साथ शुरू होता है। लेकिन वह नवजागरण अंग्रेजी राज की अधीनता में अवरुद्ध हो गया अथवा कर दिया गया। इस नए विश्लेषण के प्रकाश में अब उसे पहला नवजागरण और जिसे आमतौर से अब तक नवजागरण के नाम से जाना गया है उसे वास्तव में दूसरा नवजागरण कहना चाहिए।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, कबीर के मूल्य और महत्त्व की पहचान हिन्दी के आलोचकों के पहले विदेशियों को हो चुकी थी। मैकॉले ने उपहासपूर्वक कहा था कि सम्पूर्ण भारतीय ज्ञान ब्रिटिश म्यूज़ियम के एक शेल्फ में समा जाएगा और फिर भी कुछ जगह खाली बची रहेगी। ऐसे उच्चभू मनोभाव के बावजूद या शायद उसी के कारण ही ग्रियर्सन और वेस्टकॉट जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने कबीर में ऐसा कुछ मूल्यवान तो पाया ही कि उन्हें अपनी परम्परा, अपने प्रभाव के घेरे में समेटने को ललचा गए। दोनों ने ही कुछ भाव से कबीर की संवेदना को सेंट जॉन से प्रभावित सिद्ध करने की कोशिश की कि अपने बूते पर तो भारत में ऐसा विचार संभव ही कहाँ है। लेकिन अब हम जानते हैं कि कबीर बहुलतावादी भारतीय परम्परा की सृष्टि हैं और अपने अवदान से उसके स्रष्टा भी। भारतीय नवजागरण में कबीर और कबीर चेतना की भूमिका केन्द्रीय है।

हर युग अपनी समस्याओं और प्रश्नों के हिसाब से ही अपनी परपरा को छानता और उत्तरों की तलाश करता है। नवजागरण का एक आयाम आर्थिक उत्पीड़न और राजनीतिक दमन के प्रति संताप और क्षोभ है, दूसरा आयाम धर्म और संस्कृति की परम्परा का युगानुकूल साक्षात्कार और पुनर्मूल्यांकन, तीसरा आयाम आंतरिक विघटन की पहचान, वर्तमान की समीक्षा, आत्मालोचन और आत्मविश्लेषण से सामाजिक सुधार और पुनर्गठन के कार्यक्रम और चेतना का प्रसार है। यह कार्यक्रम सामाजिक कुरीतियों, अंधविश्वासों के खिलाफ एक आह्वान है। यह जातपाँत, छूआछूत, साम्प्रदायिक भेदभाव से ऊपर उठने का आमन्त्रण है। इन समस्याओं और प्रश्नों को देखते हुए कबीर की संवेदना और अंतर्वस्तु का जो परिचय आपने पाया हैं उससे आप समझ सकते हैं कि परम्परा में वही इस भावना के अधिकतम निकट हैं और उनके उपदेश, प्रहार और समाजसुधार को उद्दिष्ट बानियाँ इस कार्यक्रम के साथ सीधे जोड़ी जा सकती हैं, जोड़ी भी गईं। उनकी आध्यात्मिक अनुभूति में निहित 'अखण्ड' और 'सम्पूर्ण' का भाव स्वाधीनता संग्राम में पूरे देश को एकजुट करने का दार्शनिक आधार बनाया जा सकता था, बनाया गया।

दूसरे नवजागरण का पहला केन्द्र बंगाल था और रवीन्द्रनाथ टैगोर नवजागरण की चेतना के गायक थे। उनके लिये कबीर और दादू परम्परा की एक बड़ी और महत्वपूर्ण विरासत थे। पश्चिम यात्री डायरी में वे लिखते हैं, 'भारत के मध्ययुग में जब कबीर दादू प्रभृति साधु-सन्तों का आविर्भाव हुआ था, तब भारत के लिये सुख का दिन नहीं था किन्तु ऐसे संकट के समय उन्होंने मनुष्य के भेद की अपेक्षा ऐक्य को ही सत्य के रूप में देखा। क्योंकि ये सभी कवि थे, पण्डित नहीं थे। शब्द के जाल में उनका मन नहीं उलझा। इसलिये हिन्दू-मुसलमान के अति प्रत्यक्ष विरोध और विद्वेषबुद्धि के मध्य भी उन्होंने स्पष्ट रूप से मनुष्य के आन्तर-सत्य को देखा।'

भारतपथिक राजा राममोहनराय के बारे में लिखते हुए उन्होंने फिर दोहराया, 'आध्यात्मिक साधना में विश्वजनीनता है, सांप्रदायिक प्रथा में नहीं। इसीलिये भारत के ऐक्य-साधक ऋषियों ने समस्त धर्मों के मूल में जो चिरन्तन धर्म है उसे ही भेदबोध से पीड़ित मुनष्य के समक्ष उद्घटित किया था। शास्त्र सामयिक इतिहास का है, आत्मप्रत्यय चिरकाल के शास्त्र के भेद को समाप्त करता है, आत्मप्रत्यय ऐक्य की प्रतिष्ठा करता है। दादू, कबीर, नानक प्रभृति मध्ययुग के भारतीय साधकों ने धर्म के शास्त्रीय बाह्य रूप की बाधा को भेद कर एक परम सत्य के आध्यात्मिक रूप का प्रचार किया था। समस्त विरोध का समन्वय वहीं पर है।'

रवीन्द्र की काव्यचेतना में अध्यात्म का जो रंग घुला हुआ है, वह निश्चित रूप से कबीर व अन्य सन्त कवियों की काव्यचेतना के प्रवाह में स्वयं को मिला देने का परिणाम है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी कबीर नामक पुस्तक में 'भगवत्प्रेम का आदर्श' नामक अध्याय में इस भावसाम्य की विस्तृत और सोदाहरण समीक्षा की है। जैसा कि पहले कहा गया, दूसरे नव जागरण का प्रथम केन्द्र बंगाल था। उसके चेतनापुरुष रवीन्द्रनाथ टैगोर थे। उनकी भावना स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान सभी भारतीय भाषाओं में कमोबेश आगे-पीछे, लगभग समानतः व्याप्त स्वच्छंदता आन्दोलन (हिन्दी में छायावाद) की आधार भावना बनी। कबीर के आध्यात्मिक अनुभूति स्वाधीनता आन्दोलन के अनुकूल आत्मा का स्वछंद संगीत है।

महात्मा गाँधी के नेतृत्व में हमारे स्वाधीनता आन्दोलन ने जो रूप ग्रहण किया उसके पीछे भी कबीर-चेतना के प्रवाह की प्रेरणा देखी जा सकती है। दोनों में प्रकट सम्बन्ध भले ही न दिखाई दे, पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने 'गाँधी और कबीर' नामक निबंध में दोनों महापुरुषों की विचार-चेतना में निहित साम्यों को खोजा है। गाँधी के सत्य और अहिंसा के मंत्र में कबीर-चेतना का बीज है। गाँधी की माँ कबीर-पंथी थीं। गाँधी की प्रार्थनासभा के स्वरूप

को कबीर के नकारभाव की सकारात्मक अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। कबीर ने समान भाव से अवध, मुल्ला, पाण्डे को नकारा था, गाँधी ने समान भाव से सबको स्वीकार किया और अपने ईश्वर को कबीरभाव से परिभाषित किया— 'ईश्वर अल्ला तेरो नाम सबको सन्मति दे भगवान।' डॉ पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के शब्दों में 'गाँधित्व की गंगा का स्रोत कबीर के उपदेश हैं, जिसको उन्होंने माँ के दूध के साथ आत्मसात किया था। कबीर के समान गाँधी जी सत्य के पुजारी थे।'

18.5 अस्मिता–विमर्श और कबीर

कबीर का व्यापक महाभाव स्वाधीनता आन्दोलन की रीढ़ है। छायावादी काव्य तक यह भाव स्वाधीनता आन्दोलन का वैचारिक दर्शन बना रहा। 1930 के आसपास नयी पीढ़ी के आगमन और मार्क्स और फ्रायड के विचारों के साथ परिचय ने साहित्य में प्रगतिवाद, प्रयोगवाद के आन्दोलनों को जन्म दिया। अंग्रेजी शासन की फूट की राजनीति की सफलता और उसके समक्ष हमारी असमर्थता ने इस महाभाव को आजादी आने के पहले ही छिन्न-भिन्न कर दिया था, स्वाधीन भारत के पिछले साठ वर्षों में भी कबीर के 'महाभाव' की, 'अखण्ड' और 'सम्पूर्ण' की भूमिका का उत्तरोत्तर क्षय दिखाई देता है।, यह शायद स्वाभाविक भी है। स्वाधीनता संग्राम की पहली पीढ़ी अपनी परम्परा के अधिक निकट थी। इस महाभाव को अपनी अनुभूति बना सकती थी। भौतिक ऐतिहासिक परिस्थितियाँ भी समान शत्रु – विदेशी सत्ता – के विरुद्ध एकजुट होने की जरूरत से इस महाभाव का पोषण ही करती थीं। लेकिन एक बार स्वतंत्रता मिल जाने के बाद, एकजुट होने की उस भौतिक आवश्यकता – समान शत्रु – के अनुपस्थित हो जाने पर यह क्षय ही स्वाभाविक ही था। मनुष्य नैसर्गिक रूप से ही अपना स्वार्थपरायण जीव है जो कि अपने स्वार्थ को भूलता भी अपने स्वार्थ के लिये ही है। स्वाधीनता का स्वार्थ एकजुट होने से ही सिद्ध हो सकता था इसलिये वह एक जुट हुआ। इसके बाद उसका स्वार्थ बदल गया।

इसके बाद स्वाभाविक ही था कि अपने हिस्से का दावा अधिक महत्वपूर्ण बनकर अधिक उग्ररूप से सामने आए, आया भी। नेहरू-युग के साथ-साथ पिछली विरासत निःशेष हुई, 'सपूर्ण' और 'अखण्ड' और 'महाभाव' जैसी चेतनाएँ सन्दिग्ध हो उठीं और सामाजिक न्याय, बराबरी का हिस्सा, अतीत का प्रतिकार जैसे सम्मानजनक उद्देश्यों और कल्याण-कार्यक्रमों के रूप में जो परियोजनाएँ समाज तथा राजनीति में सक्रिय हुईं वे एक 'साइड इफेक्ट' की तरह सामाजिक विखण्डन और वोट बैंक की राजनीति में परिणत हुईं। 'एकजुट' के बदले यह 'अलगाव' की प्रधानता थी। 'समग्र' की चेतना, 'सार्वभौमिक' का आग्रह हाशिये के लोगों की आवाज को दबाने के साधन और उनके प्रति अन्याय पर पर्दा डालने के माध्यम की तरह अपनी असलियत में पहचाना गया। अबतक जो समाज में हाशिये पर स्थित रहे थे – हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में मुख्य रूप से दलित और स्त्री, उनकी आवाज़ें संगठित होकर अस्मिताविमर्श के रूप में अभिव्यक्त हुईं।

अस्मिता का अर्थ 'मेरे लिये अपनी पहचान' है। 'अस्मि' – संस्कृत की 'अस्' धातु का उत्तमपुरुष एकवचन– का अर्थ है ''मै हूँ। 'अस्मि' के साथ 'ता' के योग से भाववाचक संज्ञा बनती है। स्वयं अपने होने का बोध 'अस्मिता' है। 'मैं क्या हूँ' के अनेक उत्तर हैं, क्योंकि वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीति, विचारधारात्मक, क्रियात्मक आदि मेरे होने के अनेक पहलू हैं। अस्मिता की राजनीति के सन्दर्भ में इसका अर्थ हमारी पहचान का सामाजिक-सामुदायिक-राजनीतिक पहलू है। दलित-विमर्श व स्त्री-विमर्श इत्यादि इस पहलू की अभिव्यक्तियाँ हैं।

एक बृहत्तर समाज के भीतर अनेक लघुतर समाज होते हैं। इनके बीच वर्चस्व और अधिकार का पदानुक्रम होता है। जिस समाजखण्ड का वर्चस्व होता है उसके विचार,

मूल्य, आस्था-विश्वास अर्थात् जीवन-पद्धति शेष समाज के लिये अनुकरणीय बन जाती है। उसकी संस्कृति मुख्यधारा कहलाती है। इस पदानुक्रम में कुछ लघुतर समाज इतिहास, परम्परा, प्रवास आदि अनेक कारणों से समाज की मुख्यधारा के बाहर हाशिये पर धकेल दिये गये होते हैं। वे शेष समाज के मुकाबले अवमानता, शोषण, अन्याय, उत्पीड़न और विषमता के अन्य प्रकारों का शिकार होते हैं। एक दलित, दमित, उत्पीड़ित व हाशियाकृत सामाजिक समूह के सदस्य के रूप में अपने अस्तित्व की चेतना को अस्मिता की राजनीति का बीज कहा जा सकता है। इन अनुभवों की साझेदारी द्वारा एक सामूहिक अस्मिता का उद्‌भव होता है और वह राजनीतिक आन्दोलन के रूप में एक संगठन में बदलता है। आज के समय में उदार जनतांत्रिक समाजों में अस्मिता की राजनीति का उदय इस अन्याय और उत्पीड़न के प्रतिकार का उपाय है। उत्पीड़ित, अन्यायग्रस्त, हाशियाकृत समुदाय एकजुट होकर अपनी सामूहिक पहचान के तहत वर्चस्व, अधिकार और शक्ति के सामाजिक बँटवारे के लिये एक राजनीतिक प्रतिपक्ष की तरह खड़ा होता है। राजनीति का अर्थ यहाँ केवल चुनाव की राजनीति और किसी राजनीतिक दल की सदस्यता का पर्याय नहीं बल्कि शक्ति और सत्ता के सामाजिक तंत्र में अपने अधिकार की माँग है। यह विषमता के विरुद्ध युद्ध है।

अस्मिता को अपनी पहचान और परिभाषा की जरूरत होती है। इस साझेदारी के आधार पर गठित अस्मिता-समूह स्वयं को परिभाषित करने के लिये अतीत, कला, संस्कृति और इतिहास में अपनी जगह की तलाश करता है। हाशिये के इस समुदाय के पास इसके पहले तक प्रायः न अपना इतिहास दर्ज होता है, न अपनी परम्परा की चेतना। राजनीतिक प्रतिपक्ष की तरह संगठित होने की इच्छा के साथ-साथ ही वे अपने इतिहास और परम्परा की खोज आरम्भ करते हैं और इस दृष्टि से उपलब्ध अतीत की पड़ताल और इतिहास की पुनर्व्याख्या करते हैं कि अपनी अस्मिता को परिभाषित कर सकें। अतीत और इतिहास व परम्परा के साथ सम्बन्ध के दो पक्ष होते हैं। पहला पक्ष, इतिहास पर मुख्यधारा के वर्चस्व पर आघात है जिसके अन्याय और अत्याचार के कारण वे हाशिये पर धकेले गये। दूसरा पक्ष, उस इतिहास में अपने योगदान की तलाश और उसपर स्वत्वाधिकार का दावा है जिसे मुख्यधारा ने धोखे से हथिया लिया है। अस्मिता-विमर्श का यह एक प्रमुख लक्षण है कि उसमें अतीत और इतिहास को परिस्थिति के प्रभाव और दबाव से सहज विकास की तरह नहीं, षड्‌यंत्र, साज़िश और धोखे की तरह देखने की प्रवृत्ति होती है।

18.5.1 दलित-विमर्श में कबीर

इस विषय पर आप इकाई 14 में विस्तार से अध्ययन कर चुके हैं। दलित-विमर्श में कबीर की आलोचना अस्मिता-विमर्श के दोनों पक्षों का उदाहरण प्रस्तुत करती है। पहला तरीका कबीर को 'सवर्ण साजिश' और 'ब्राह्मण धोखाधड़ी' के फन्दे से छुड़ाना यानी मुख्यधारा पर आघात। और दूसरा उन्हें एक अलगाववादी, जातिवादी पहचान देना और इस पहचान को दलित-विमर्श के साथ जोड़ कर परम्परा को अपने आधिपत्य में लेना यानी स्वत्वाधिकार का दावा विश्व भर के समाजों में अपनी अपनी तरह की विषमताएँ, अन्याय और उत्पीड़न हैं। जाति व्यवस्था की ऊँच-नीच भारतीय हिन्दू समाज की खास अपनी विशेषता है और जन्म पर आधारित विषमता की निर्विवेक, अन्यायपूर्ण व्यवस्था का तर्कहीन कारण भी।

दलित-विमर्श ने मुख्यधारा से लोहा लेने के लिये व अपने अतीत और इतिहास की रचना के लिये कबीर को चुन कर उनकी अनेक छवियों में एक और छवि जोड़ ली है। डॉ. धर्मवीर की प्रसिद्ध पुस्तक 'कबीर के आलोचक' को दलित-विमर्श में आलोचना के स्वरूप का नमूना कहा जा सकता है। इस पुस्तक में, जैसा कि नाम से ही प्रकट है, कबीर के

आलोचकों से लोहा लिया गया है और उन पर दलित समाज के विरुद्ध साज़िश के आरोप लगाए गये हैं। इन आरोपों का प्रमुख आधार आलोचकों की जाति है। सबसे सख्त हमला हजारीप्रसाद द्विवेदी पर किया गया है क्योंकि वे बाह्मण हैं और ब्राह्मणवादी मानसिकता पर आघात दलित विवेचना का एक महत्वपूर्ण प्रत्यय है।

सिद्ध और स्थापित मान्यताओं और आलोचकों पर आक्रमण के द्वारा मुख्यधारा का ध्वंस और अपनी विचार परम्परा की स्थापना का प्रयास दलित-विमर्श की कार्ययोजना है। अस्मिता की राजनीति के अनुसार यह एक उपयुक्त और न्यायोचित कार्यक्रम है। लेकिन विमर्शगत उपयोगिता और साहित्यिक मूल्यांकन दो अलग-अलग बातें हैं। जहाँ तक साहित्यिक मूल्यांकन का प्रश्न है, उनकी ध्वंसयोजना तर्क-पद्धति का रूप धारण करती है कि अगर कोई एक गंभीर दार्शनिक चिन्तक के रूप में कबीर की प्रशंसा कर रहा हो तो वह उनकी सामाजिक चेतना का अवमूल्यन कर रहा है। अगर कोई उनके पारिभाषिक शब्दकोष के स्रोतों की तलाश कर रहा हो तो वह उनकी मौलिकता को अस्वीकार कर रहा है। अगर कोई कबीर की कविता में अस्तित्व के मूलभूत प्रश्नों की गहराई से मुखातिब हो रहा हो तो उनकी सामाजिक आलोचना की ओर से ध्यान को भटकाना चाहता है। और ये सारे 'पाप' सवर्ण ब्राह्मणवादी आलोचकों ने किए हैं। दलित व्याख्या के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक चेतना का एकमात्र आधार राजनीतिक सरलीकरण के समीकरण ही हो सकते हैं, उसकी कोई दार्शनिक गहराई नही हो सकती। यही नहीं, यदि किसी को कबीर की कविता में अद्वैत-प्रेरित अखण्ड महाभाव, उनकी वैष्णव भावना जैसी किसी चीज का दर्शन होता है तो वह भी सवर्ण ब्राह्मवादी आलोचकों का पाप और षड्यंत्र हैं। विचित्र सी बात है कि जिस कबीर की कविता ने स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान जात-पाँत और ऊँच-नीच के भेदभाव के विरुद्ध बीजमंत्र का काम किया था वही कबीर और उनकी कविता अब भेदभाव और अलगाव के पोषण के लिये औजार बनाई जा रही हैं। दलित चेतना के सामने प्रश्न वस्तुतः कबीर और उनकी काव्यचेतना को समझने का उतना है भी नहीं जितना कि कबीर के नाम के सहारे दलित समुदाय के इतिहास और परम्परा को अलगाव की चेतना देने का है। और जात-पाँत के विरोध की भी आवश्यकता उन्हें नहीं, जातिवाद को अपने पक्ष में वैधता प्रदान करने की है, कबीर उसके एक औजार भर हैं। कबीर काव्य की विषयवस्तु का जो हिस्सा इस एजेण्डा की पूर्ति में बाधक होता हो, उसका सरल समाधान यह है कि कबीर की इस परिभाषित दलित-प्रतिमा के विरुद्ध या विपरीत पड़ने वाली किसी भी पंक्ति को प्रक्षिप्त और अप्रामाणिक मान कर अस्वीकार कर दिया जाए।

अबतक की दलित कबीर-आलोचना ने सवर्ण ब्राह्मणवादी आलोचकों के तर्कों को इस आधार पर ध्वस्त किया है कि उनकी कबीर-आलोचना के पीछे एक ब्राह्मणवादी एजेण्डा है। ठीक उसी तरह छवि निर्माण का एक दलित एजेण्डा भी है लेकिन इसके अनुसार कबीर-छवि का निर्माण अभी पूरा नहीं किया गया है। कबीर जाति के जुलाहा थे। इसलिये अगर दलित चेतना के जातिवादी आधार को देखें उन्हें ठीक-ठीक दलित तो नही कहा जा सकता, अधिक से अधिक पिछड़े समुदाय का माना जा सकता है। लेकिन यह अस्मिता की राजनीति और दलित विमर्श का एजेण्डा है। उसका उद्देश्य साहित्यिक और दार्शनिक नहीं, विशुद्ध व्यावहारिक राजनीति है। जहाँ तक साहित्य का प्रश्न है, महान कवि जात-पाँत की इन छोटी-छोटी सीमाओं में समा ही नहीं सकता, अपने बाड़े में बन्द करने की कोशिश में उसके हाथ-पाँव-गर्दन इत्यादि काट कर भले ही उसे अपनी नाप का बना लिया जाए।

कबीर को उनके विभिन्न व्याख्याताओं ने विभिन्न अर्थों के साथ पढ़ा है और जिस हद तक वे अपने पाठ को कबीर की कविता से प्रमाणित कर सके हैं उस हद तक सभी पाठ सही

और स्वीकार्य हैं। एक अपेक्षाकृत भिन्न और विशिष्ट पाठ अभिलाषदास का है। वे कबीर की कविता की व्याख्या से उन्हें 'इहलोकवादी' और 'जीववादी' सिद्ध करते हैं–

साँच कहौं तो है नहीं, झूठहिं लागू पियारि।
मों सर ढारैं ढेकुली, सींचै और की क्यारि।।

इसका अर्थ उन्होंने किया हैः सच कहूँ तो परमात्मा है नहीं, लेकिन लोगों को झूठ ही प्रिय लगता है। (ऐसा कहने पर) मेरे सिर ढेकुली ढारते हैं, और दूसरे की क्यारी सींचते हैं अर्थात अनुयायी मेरे हैं, परिपोषण दूसरे मतों का करते हैं। ऐसे ही एक अन्य पद की व्याख्या है –

अलख निरंजन लखै न कोई, जेहिं बंधे बँधा सब लोई
जेहि झूठे सब बाँधु अयाना, झूठा वचन साँच कै माना।

इन पंक्तियों का अर्थ उन्होंने किया हैः जिसे किसी ने देखा नहीं उस झूठ अलखनिरंजन के बन्धन में सब बँधे हैं। जिस झूठ ने सब अज्ञानियों का बाँधा है, उस झूठे वचन को उन्होंने सच करके माना है।

शब्दशः देखें तो अलखनिरंजन ईश्वर को झूठ मानने वाले ये अर्थ लिखन्त से सिद्ध प्रतीत होते हैं। आधुनिक आलोचक अपनी विचारधारा के आलोक में पीछे मुड़ कर देखते हुए उसको अपनी व्याख्या का आधार बना सकता है। परम्परागत दर्शन में एक धारा यह मान कर चलती है कि वास्तविक सत्य एक आदर्श विचार जगत में निवास करता है। यह संसार उस वास्तविक जगत की अनुकृति मात्र अतः असत्य है। आधुनिक समय ने इस विचार को उलट कर सिर के बल खड़ा कर दिया और प्रस्तावित किया कि जो प्रकट और प्रत्यक्ष है, वही प्रामाणिक रूप से सत्य है, विचार का आदर्श जगत कल्पित और अयथार्थ है। इस तर्क को उपरोक्त व्याख्या का आधार माना जा सकता है। इस विचार में आप 'सत्य और यथार्थ' का अन्तर पहचान और समझ सकते हैं। सत्य को अस्था के द्वारा ही सिद्ध मान लिया जाता है, उसको प्रमाण की जरूरत नहीं पड़ती। बल्कि आस्था की दृढ़ता के समक्ष विपरीत प्रमाणों से भी सत्य को असिद्ध नहीं किया जा पाता। सत्य की सत्ता मानवकल्पित आदर्श जगत में होती है। यथार्थ इसके विपरीत ठोस भौतिक प्रमाण पर आधारित सत्य होता है। आदर्शवादी विचारधाराओं में भौतिक जगत को असत्य और कल्पित विचार जगत को सत्य मानने की प्रवृत्ति होती है। इसी अर्थ में मार्क्स ने हीगेल के आदर्शवादी सिद्धान्त को 'सिर के बल खड़ा किया था' कि जो सामने साक्षात सप्रमाण उपस्थित है उस भौतिक जगत को सत्य और आदर्श विचार जगत को असत्य माना था। अभिलाष दास की व्याख्या भी 'अलखनिरंजन' के बारे में इसी विचार का अनुसरण करती है।

दार्शनिक परम्परा में अलखनिरंजन को 'सत्य' मानते हुए उससे 'अन्य' और 'भिन्न', 'विपरीत', अर्थात झूठ के अर्थ में 'माया' को ग्रहण किया जाता है जो प्रत्यक्ष होने के बावजूद असत्य है। व्याख्याकार 'झूठ' से 'अज्ञान' और 'माया' का अर्थ नहीं ग्रहण करता, अलखनिरंजन को ही झूठ मानता है। 'माया' के अर्थानुसार अभिप्राय होगा, जो 'साँच' है (निर्गुण, शून्य) वह तो अस्तित्वमान/प्रत्यक्ष दृश्यगत नहीं है इसलिये झूठ (माया) ही लोगों को प्रिय है। दूसरे दोहे में भी कहा गया है कि जिस अलखनिरंजन ने अपने अदृश्य बन्धन में सबको बाँध रखा है वह किसी को दिखाई नहीं देता। जिस झूठ (माया, संसार) ने प्रकट भाव से बाँधा हुआ है उस झूठे वचन को सब सच मानते हैं।

भौतिक जगत को माया मानना भारतीय दर्शन में परम्परासिद्ध है और आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के लिये समस्याग्रस्त भी। कबीर का तात्पर्य यहाँ 'माया' से था या नहीं का

उत्तर हाँ या ना दोनों ही पक्षों में समान रूप से अनुमानसम्मत है। कबीर के काव्य में माया को लेकर कहा गया प्राप्त होता है इसलिये माया की अवधारणा को वे जानते और मानते थे, इतना निश्चित है।

जिन बहुत सी पूर्वपरम्पराओं को समाविष्ट करते हुए निर्गुणकाव्य अग्रसर हुआ है उनसे निष्पन्न सम्मिलित दर्शन में 'अस्ति' और 'नास्ति' एक ही सत्य के दो आयाम हैं। शंकराचार्य के अद्वैत में तो स्पष्टतः कहा भी गया है कि जीव ही ब्रह्म है, दूसरा कोई नहीं। वह मैं हूँ, तुम हो, वह है। इसलिये दोनों ही व्याख्याएँ सही हो सकती हैं लेकिन एक की स्वीकृति दूसरे को निरस्त नहीं करती। कबीर का जीववादी व इहलोकवादी होना अलखनिरंजन की उपासना में स्वतोव्याघात नहीं है, व्याख्याकार भले ही एक दूसरे से असहमत होते रहें।

लेकिन दलित-विमर्श के आलोचक केवल असहमति से सन्तुष्ट नहीं हैं। वे अपने सिवाय हर एक के मन्तव्य को एक साजिश मानते हुए उसे असिद्ध और निरस्त करने के इच्छुक है। एक क्षण को भी यह संभावना उनके लिये विचारणीय नहीं है कि ये आलोचक अपनी काव्यरुचि, दार्शनिक विचार, मूल्यभावना और समझ को देखते हुए कबीर के मूल्यांकन में सच्चे ईमानदार थे, आज की कसौटियों के अनुसार भले ही अपर्याप्त प्रतीत हो रहे हों, और उनकी व्याख्या व मूल्यांकन के लिये भी पर्याप्त आधार स्वयं कबीर की कविता में प्राप्त होता है। सच यह है कि वैदिक परम्परा और (नास्तिक) श्रमण परम्परा कभी एक दूसरे के विपरीत और विरुद्ध भले रही हो, कबीर तक आते-आते एक दूसरे में इस कदर घुल चुकी है कि दोनों में क्या कहाँ अलग है वह केवल अनुमानसंभव रह गया है, अब कबीर की अनेक छवियों में एक दलित कबीर छवि भी है। अभी उसका निर्माण पूरा तो नहीं हुआ है लेकिन कबीर के आलोचकों की आलोचना में जो कहा गया है उससे अनुमान लगाया जा सकता है कि :

1. दलित कबीर-छवि में कबीर के नाम से जो साहित्य पढ़ा पढ़ाया जाता रहा है उसका आधा या तीन चौथाई तक प्रक्षिप्त घोषित कर दिया जाएगा और इस घोषणा का आधार केवल पाठालोचन के वस्तुगत और तटस्थ पैमाने नहीं होंगे बल्कि जो अभीष्ट छवि है उससे भिन्न और विपरीत होना ही पर्याप्त आधार और ब्राह्मणों की साजिश का नतीजा मान लिया जाएगा, भले ही यह तथाकथित प्रक्षेप भी केवल अनुमान संभव हो।

2. दलित–विमर्श की अभीष्ट छवि द्वैत और अलगाव की पोषक है अतः जिस अखण्ड महाभाव की साकार, स्थानीय, वस्तुगत अभिव्यक्ति के लिये कबीर देश-विदेश में देशकालजयी प्रासंगिकता के भागी हुए, संभव है कि उसे अभिव्यक्त करने वाले अंश भी प्रक्षिप्त सिद्ध कर दिए जाएँ।

3. सिद्ध मान लिया जाएगा कि कबीर ने अपना पंथ चलाया और उसके बाहर जाने वालों से रुष्ट भी हुए, भले ही वे स्वयं अपनी कविता से किसी भी निश्चित पंथ के साथ अनिवार्यतः जुड़ने वाले किसी न किसी प्रकार के कर्मकाण्ड के विचारमात्र के विरोधी ही क्यों न प्रमाणित होते हों।

4. कबीर ने ब्राह्मण, अवधू, मुल्ला तीनों को उनके कर्मकाण्ड के लिये ललकारा था। दलित कबीर छवि में यह ललकार केवल ब्राह्मण के लिये शेष रह जाएगी क्योंकि डॉ. धर्मवीर के शब्दों में 'एक दूसरी पेचीदी बात यह होती है कि जब इस श्रमिक समाज में से किसी व्यक्ति को विदेशी प्रभावों के कारण पढ़ने-लिखने का मौका मिलता है तो वह इतना पढ़ता-लिखता है कि उसकी कोई थाह नहीं होती...उनका

(कबीर का) यह पढ़ना-लिखना और ज्ञान-ध्यान इस देश में मुसलमानी प्रभाव के कारण संभव हो सका था।' उनकी ही तर्कपद्धति का अनुसरण करते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कबीर मुसलमानी प्रभावों के कृतज्ञ रहे होंगे। अतः मुल्ला को कैसे फटकार सकते थे? यह दुश्मनी तो ब्राह्मणों के साथ ही रही होगी इसलिये काजी और मुल्ला के लिये फटकार वाले ये अंश भी प्रक्षिप्त ही कहे जाएँगे।

फिलहाल ये केवल अनुमान ही हैं, बहुत संभव है कि कबीर की भाषा, अनुभव और दर्शन की कोई नयी निराली समझ सामने आए। वास्तविक दलित कबीर-छवि अभी निर्मिति में ही है।

18.5.2 स्त्री-विमर्श में कबीर

दलितविमर्श के समान ही स्त्री-विमर्श में भी अतीत, इतिहास, परंपरा, संस्कृति को देखने के दो पक्ष हैं। एक पक्ष स्त्रीविरोधी पुरूष-प्रभुत्ववादी पितृसत्तात्मक समाज के अन्यायों को चुनौती देने का तरीका है और दूसरा पक्ष परम्परा में अपनी जगह की पहचान और उस पर दावा और दखल है। जहाँ तक सामान्यतः भक्तिकाल और कबीर का प्रश्न है, स्त्री-विमर्श के पास केवल पहला ही विकल्प है। बहुत प्रकट कारणों से एकमात्र अपवाद केवल मीरा हैं जिन पर बहुत दृष्टियों और आयामों से अध्ययन और विवेचन हो चुका है और निरन्तर हो रहा है। वे स्त्री के संघर्ष और विद्रोह का प्रतीक बन चुकी हैं।

उतने ही प्रकट कारणों से भक्त कवियों के प्रति केवल अवज्ञा और द्वेष का भाव है क्योंकि भक्त कवियों ने भी स्त्रीद्वेष और अवज्ञा की भरपूर अभिव्यक्ति की है।

स्त्री-विमर्श के अन्तर्गत कबीर पर स्वतंत्र रूप से बहुत कुछ नहीं लिखा गया है। राजकिशोर द्वारा संपादित 'कबीर की खोज' में सुश्री ममता जी. सागर द्वारा लिखित 'स्त्री की जगह' नामक एक लेख संकलित है जिसमें उन्होंने यथासंभव सहानुभूति के साथ कबीर को उनके युग के परिप्रेक्ष्य में रखते हुए, उस युग की नारीविषयक धारणाओं के परिप्रेक्ष्य में कबीर की मान्यताओं का मूल्यांकन किया है और कबीर को जहाँ तक संभव हो, यह छूट देनी चाही है कि वे अपने युग की मर्यादाओं के परे नहीं जा सके। इसके अतिरिक्त छिटपुट आलेख और उल्लेख ही प्राप्त हैं, जैसे कबीर के सती-आदर्श के विरुद्ध सुश्री अनुराधा का लेख या पुरुषोत्तम अग्रवाल की पुस्तक की समीक्षा करते हुए गीताश्री द्वारा कबीर के स्त्रीविषयक दृष्टिकोण को लेकर अभिव्यक्त रोष। श्री पुरूषोत्तम अग्रवाल ने अपनी 'अकथ कहानी प्रेम की' नामक महत्वपूर्ण पुस्तक में दो अध्यायों में कबीर की स्त्रीविषयक धारणाओं के अन्तर्विरोध पर विचार किया है। उनका संकेत है कि एक ओर तो कबीर स्त्री के प्रति अवमानना का रुख अपनाते हैं, दूसरी ओर स्वयं अपने लिये स्त्री के पातिव्रत और सतीभाव को आदर्श और कसौटी की तरह स्वीकार करके स्त्रीभाव से ही प्रिय को समर्पित होना चाहते हैं, और इस तरह सबसे बड़ी श्रद्धांजलि स्त्री को ही निवेदित करते हैं।

स्त्री-विमर्श में इसे असहिष्णुता और रोष के अतिरिक्त अन्य किसी भाव के साथ नहीं देखा जा सकता क्योंकि, जैसा कि पहले कहा गया, अस्मिता की राजनीति के रूप में स्त्री-विमर्श के समक्ष प्रश्न कबीर की भावना को समझने और कबीर की भक्ति के मूल्यांकन का नहीं, परंपरा में स्त्री की जगह की जानकारी और अपने अधिकार की दावेदारी का है।

कबीर की स्त्री—विषयक धारणाएँ 'कामी नर को अंग','सुन्दरी' को अंग', 'सती को अंग', 'पतिव्रता को अंग' और 'व्यभिचारिणी को अंग' की साखियों में सम्मिलित हैं। पतिव्रता, सती और सुन्दरी उनके अनुकरणीय आदर्श हैं, उनके अपने समर्पण की कसौटियाँ है।

उन्हें छूट देनी हो तो शायद कहा जा सकता है कि स्त्री के लिये सामान्यतः स्वीकृत मर्यादा को वे तपस्या का दर्जा देते हैं ओर इस तरह उसे सम्मान देते हैं। शेष वे स्त्री को माया का साकार रूप बना कर कठोरतम शब्दों उसकी निन्दा करते हैं। 'कामी नर को अंग' में भी दोष कामी नर को नहीं स्त्री को ही दिया गया है। भक्त कवियों ने बह्मचर्य का व्रत धारण करके इतना असंभव गंतव्य अपने लिये तय कर लिया है कि हर बार तपोभ्रष्ट होने की विवशता उन्हें स्त्रीद्वेषी बनाती है। लेकिन वे अपने गंतव्य असंभवता या अपनी दुर्बलता को पहचानने की बजाय स्त्री को ही उत्तरदायी मानते हैं। उनका यह आचरण एक ओर स्त्री के अस्तित्व का कामवस्तु के रूप में निर्धारण भी करता है, एक असंभव गंतव्य तक पहुँचने में पुरुष की असफलता के लिये स्त्री को ही दोषी और निन्दनीय भी ठहराता है, 'जा तन की झाँईं परत अंधा होत भुजंग' जैसे विरुदों की भागिनी बनाता है और दूसरी ओर जहाँ स्त्री को पतिव्रता और सती का सम्मान देकर श्रद्धास्पद बनाता है वहाँ भी वस्तुतः प्रकारांतर से उसके लिये निर्धारित पातिव्रत और सतीभाव की मर्यादाओं में निहित सामाजिक अन्याय का आदर्शीकरण करता है, उस अन्याय के लिये समाज को तथा उसे आत्मसात करने के लिये स्त्री को बढ़ावा देता है।

ममता जी सागर ने अपने विवेचन में कबीर काव्य के विश्लेषण से निम्न निष्कर्ष निकाले हैं –

- सामाजिक पदानुक्रम में स्त्रियों की हैसियत न्यूनतम है।
- स्त्रियों के लिये भौतिक और आध्यात्मिक सीमाएँ निर्धारित हैं, स्वीकृति और प्रशंसा के लिये उन सीमाओं के भीतर ही आचरण अपेक्षित हैं।
- स्त्री-पुरुष के बीच समानता का सम्बन्ध अपरिचित है।
- स्त्री निन्दा का वैचारिक प्रचलन है।
- स्त्रियाँ पाप की प्रतिमा और कामवस्तुओं से अधिक कुछ नहीं हैं।
- स्त्रियों का शोषण स्वाभाविक है।
- समूची मानवता की समानता का आग्रह एक निश्चित बिंदु पर आकर स्त्री को इसके दायरे के बाहर कर देता है।
- पतिव्रत धर्म और सती की आवधारणों का जोरदार समर्थन किया गया है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि दार्शनिक भूमि पर कबीर अपने लिये एक स्त्री की भूमिका अख्तियार करते हैं, लेकिन सामाजिक भूमि पर वे एक पुरुष ही हैं। अधीनता की यह भूमिका प्रश्नाकुलताविहीन और स्त्री की सामाजिक समस्याओं के प्रति दायित्वबोध से मुक्त है। इस दोहरेपन में वे इस भूमिका की ढाँचागत समस्या से मुक्ति पा जाते हैं। इसलिये स्त्री-विमर्श के तहत कबीरकाव्य में भक्ति को पितृसत्ता के पुनरुत्पादन की तरह भी पढ़ा जा सकता है।

18.6 सारांश

कबीर का महत्व जितना साहित्य के अध्ययन के लिए है उतना ही इतिहास के लिए भी। भक्तिकाल की ऐतिहासिक व्याख्याओं में कबीर को विशिष्ट तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। कबीर की कविता का विविध रूपों में मूल्यांकन इसका प्रमाण है। आज भक्तिकाल की व्याख्या भारत में आधुनिक काल के प्रथम सोपान के रूप में की जा रही है। यहाँ भी कबीर महत्वपूर्ण प्रमाण और साक्ष्य की तरह प्रस्तुत किए जाते रहे हैं।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

उनके काव्य को युगीन बोध के संदर्भ में भी देखा जा रहा है और परवर्ती इतिहास पर पड़ने वाले प्रभाव के संदर्भ में भी।

अस्मिता-विमर्श के अंतर्गत भी कबीर के अवदान पर इस इकाई में विचार किया गया है। कबीर का समय अस्मितवादी विमर्श का नहीं था। यही कारण है कि उनके काव्य में एक उत्पीड़ित समाज के सदस्य होते हुए भी दूसरे उत्पीड़ित समाज (स्त्री) के प्रति कोई सहानुभूति दृष्टिगत नहीं होती। स्त्री को वे 'माया' मानते हैं और उसकी निन्दा करते हैं। लेकिन दूसरी ओर स्वयं अपने लिए स्त्री के लिए स्वीकृत मर्यादा को स्वीकार कर स्त्रीभाव से ही प्रिय के प्रति समर्पित होने की बात कहते हैं। दार्शनिक भूमि पर वे स्वयं के लिए स्त्री की भूमिका चुनाव करते हैं।

पिछले लगभग दो सौ वर्षों में कबीर विविध मूल्यांकन दृष्टियों और कबीर के अवदान सम्बंधी मतभेदों विश्लेषण भी इस इकाई में किया गया है।

18.7 अभ्यास प्रश्न

1. 'भक्तिकाल' के अध्ययन संबंधी विविध मतों / दृष्टियों पर विचार करते हुए भक्तिकाल को कबीर के अवदान का विवेचन कीजिए।

2. भारतीय नवजागरण में कबीर चेतना की भूमिका का आकलन कीजिए।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

परिशिष्ट :
व्याख्या हेतु निर्धारित पाठ

कबीर की कविता के निम्न अंशों से ही व्याख्या के प्रश्न पूछे जाएँगे। ये अंश श्यामसुंदर दास द्वारा संपादित कबीर ग्रंथावली से उद्धृत हैं।

अनुक्रम :

दोहा

1. कलि का स्वामी लोभिया,
2. करता दीसै कीरतन,
3. एक कनक अरु काँमनी,
4. कबीर गूँजी साह की,
5. कबीर माला मन की,
6. हरिजन सेती रूसणाँ,
7. ऊँचे कुल क्या जनमियाँ
8. कबीर तन पंषी भया
9. कबीर भेष अतीत का
10. कबीर हरि का भाँवता
11. देवल माँहें देहुरी
12. हाड़ जलै ज्यूँ लाकड़ी
13. दुनियाँ के धोखै मुवा
14. कागद केरी नाँव री
15. कबीर यह मन कत गया
16. माया मुई न मन मुवा
17. त्रिष्णाँ सींची नाँ बुझै
18. कबीर इस संसार का
19. कबीर हर का भावता
20. साषत बाँभण मति मिलै
21. जिहिं घरि साध न पूजिये
22. अनल अकाँसा घर किया
23. दुखिया मूवा दुख को
24. कबीर हरदी पीयरी
25. धरती अरु असमान बिचि
26. जाकै मह माथा नहीं
27. मेरे मन मैं पड़ि गई
28. नीर पिलावत क्या फिरै
29. मन मार्‌या ममिता मुई
30. आपा मेट्या हरि मिलै

31. कमोदनी जलहरि बसै
32. कबीर गुर बसै बनारसी
33. सब जग सूता नींद भरि
34. रोवणहारे भी मुए
35. जब गुण कूँ गाहक मिलै
36. कबीर लहरि समंद की
37. ऊँचा चढ़ि असमान कू
38. कबीर खोजी राम का
39. हरिया जाँणै रूँषड़ा

पद

1. मुलाँ करि ल्यौ न्याव खुदाई
2. काहे री नलनी तूँ कुम्हिलाँनीं
3. अब का डरौं डर डरहि समाँनाँ
4. बोलानाँ का कहिये रे माई
5. ऐसा भेद बिगूचन भारी
6. मेरी मेरी करताँ जनम गयौ
7. कहु पाँड कैसी सुचि कीजै
8. अब न बसूँ इहि गाँइ गुसाँई
9. अवधू ऐसा ग्याँन बिचारी
10. जो मैं ग्याँन बिचार न पाया
11. डगमग छाड़ि दै मन बौरा
12. तन खोजौ नर करौ बड़ाई
13. अवधू ऐंसा ग्यानबिचार
14. जन धंधा रे जग धंधा
15. देखत नैन चल्या जग जाई
16. मन रे कागद कीर पराया
17. माया तजूँ तजी नहीं जाइ
18. हरि ठग जग कौं ठगौरी लाई
19. साईं मेरे साजि दई एक डोली
20. विनसि जाइ कागद की गुड़िया
21. मन रे तन कागद का पुतला
22. हँमारै राँम रहीम करीमा केसो
23. काजी कौन कतेब बषांनै
24. कौंन मरै कौन जनमै आई
25. झगरा एक नवेरो राँम
26. पंडित बाद बदंते झूठा
27. मन रे मन ही उलटि समाँना

28. संतौं भाई आई ग्याँन की आँधी रे
29. तननाँ बुनना तज्या कबीर
30. कहा नर गरबसि थोरी बात
31. लोका मति के भोरा रे
32. मन बनजारा जागि न सोई
33. सब मदिमातै कोई न जाग
34. आऊँगा न जाऊँगा न मारूँगा न जीऊँगा
35. भलै नींदौ भलै नींदौ भलैं नींदौ लोग
36. अलह राँम जीऊँ तेरे नाँई
37. केऊ केऊ तीरथ ब्रत लपटानाँ, केऊ केऊ केवल राँम निज जाँना
38. बहुत जतन करि बाँनक बाँना, सौं मिलाय जीव तहाँ ठाँना

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

दोहा

1. कलि का स्वामी लोभिया, मनसा धरी बधाइ।
   दैंहि पईसा ब्याज कौं, लेखाँ करताँ जाइ।।

2. करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि तूंड।
   जाँणैं बूझे कुछ नहीं, यौं ही आंधां रूंड ।।

3. एक कनक अरु काँमनी, बिष फल कीएउ पाइ।
   देखै ही थै बिष चढ़ै, खाँयै सूँ मरि जाइ।।

4. कबीर पूँजी साह कर्, तूँ जिनि खेवै ष्वार।
   खरी बिगूचनि होइगी, लेखा देती बार।।

5. कबीर माला मन की, और संसारी भेंष।
   माला पहरयाँ हरि मिलै, तौ अरहट कै गलि देय।

6. हरिजन सेती रूसणाँ, संसारी सूँ हेत।
   ते नर कदे ने नीपजै, ज्यूँ कालर का खेत।।

7. ऊँचे कुल क्या जनमियाँ, जे करणीं ऊँच न होइ।
   सोवन कलस सुरे भर्या, साधूँ निंद्या सोइ।।

8. कबीर तन पंषी भया, जहाँ मन तहाँ उड़ि जाइ।
   जो जैसी संगति करे, सो तैसे फल खाइ।।

9. कबीर भेष अतीत का, करतूति करै अपराध।
   बाहरि दीसै साध गति, माँहै महा असाध।।

10. कबीर हरि का भाँवता, दूरैं थैं दीसंत।
    तन षीणा मन उनमनाँ, जग रूठड़ा फिरंत।।

11. देवल माँहैं देहुरी, तिल जेहैं बिसतार।
    माँहैं पाती माँहि जल, माँहै पूजणहार।।

12. हाड़ जलै ज्यूँ लाकड़ी, केस जलैं ज्यूँ घास।
    सब तन जलता देखि कर, भया कबीर उदास।।

13. दुनियाँ के धोखै मुवा, चलै जु कुल की काँणि।
    तब कुल किसका लाजसी, जब ले धरया मसाँणि।।

14. कागद केरी नाँव री, पाँणी केरी गंग।
कहैं कबीर कैसे तिरूँ, पंच कुसंगी संग।।

15. कबीर यह मन कत गया, जो मन होता काल्हि।
डूंगरि बूठा मेह ज्यूँ गया, निवाँणाँ चालि।।

16. माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया सरीर।
आसा त्रिष्णाँ नाँ मुई, यौं कहि गया कबीर।।

17. त्रिष्णाँ सींची नाँ बुझै, दिन दिन बढ़ती जाइ।
जवासा के रूप ज्यूँ, घण मेहाँ कुमिलाइ।।

18. कबीर इस संसार का, झूठा माया मोह।
जिहि घरि जिता बँधावणाँ, तिहिं घरि तिता अँदोह ।।

19. कबीर हरि का भावता, झीणाँ पंजर तास।
रैणि न आवैं नींदड़ी, अंगि न चढ़ई मास।।

20. साषत बाँभण मति मिलै, बैसनौं मिलै चंडाल।
अंक माल दे भेटिये, माँनों मिले गोपाल।।

21. जिहिं घरि साध न पूजिये, हरि की सेवा नाँहि।
तै घर मड़हट सारषे, भूत बसै तिन माँहि।।

22. अनल अकाँसा घर किया, मधि निरंतर बास।
बसुधा ब्यौम बिरकत रहै, बिनठा हर बिसवास।।

23. दुखिया मूवा दुख कों, सुखिया सुख कौं झूरि।
सदा आनंदी राम के, जिनि सुख दुख मेल्हे दूरि।।

24. कबीर हरदी पीयरी, चूना ऊजल भाइ।
राम सनेही यूँ मिले, दुन्यूँ बरन गँवाइ।।

25. धरती अरु असमान बिचि, दोइ तूंबड़ा अबध।
षट दरसन संसै पडया, अरू चौरासी सिध।।

26. जाकै मह माथा नहीं, नहीं रूपक रूप।
पुहूप बास थैं पतला, ऐसा तत अनूप।।

27. मेरे मन मैं पड़ि गई, ऐसी एक दरार।
फटा फटक पषाँण ज्यूँ, मिल्या न दूजी बार।।

28. नीर पिलावत क्या फिरै, सायर घर घर बारि।
जो त्रिषावंत होइगा, तो पीवेगा झष मारि।।

29. मन मारया ममिता मुई अहं, गई सब छूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही बिभूति।।

30. आपा मेट्या हरि मिलै, हरि मेंट्या सब जाइ।
अकथ कहाणी प्रेम की, कह्या न को पत्याइ।।

31. कमोदनी जलहरि बसै, चंदा बसे अकासि।
जो जाही का भावता, सो ताही कै पास।।

32. कबीर गुर बसै बनारसी, सिष समंदाँ तीर
बिसार्‌या नहीं बीसरै, जे गुँण होइ सरीर

33. सब जग सूता नींद भरि, संत न आवै नींद।
काल खड़ा सिर उपरैं, ज्यूँ तोरणि आया बींद।।

34. रोवणहारे भी मुए मुए, जलाँवणहार।
हा हा करते ते मुए, कासनि करौं पुकार।।

35. जब गुण कूँ गाहक मिलैंए तब गुण लाख बिकाइ।
जब गुण कौं गाहक नहीं, तब कौड़ी बदले जाइ।।

36. कबीर लहरि समंद की, मोती बिखरे आइ।
बगुला मंझ न जाँणई, हंस चुणै चुणि खाइ।।

37. ऊँचा चढ़ि असमान कू, मेरु ऊलंघे ऊड़ि।
पसू पंषेरू जीव जंत, सब रहें मेर में बूड़ि।।

38. कबीर खोजी राम का, गया जु सिंघल दीप।
राम तौ घट भीतर रमि रह्या, जौ आवै परतीत।।

39. हरिया जाँणौ रूँषड़ा, उस पाँणीं का नेह।
सूका काठ न जाणई, कबहू बूठा मेह।।

पद

1. मूलाँ करि ल्यौ न्याव खुदाई,
   इहि विधि जीव का भरम न जाई ।। टेक।।
   सरजी आँनैं देह बिनासै, माटी बिसमल कीता।
   जोति सरूपी हाथि न आया, कहौ हलाल क्या कीता।।
   बेद कतेब कहौ क्यूँ झूठा, झूठा जोनि बिचारै।
   सब घटि एक एक करि जाँनैं, भौं दूजा करि मारै।।
   कुकड़ी मारै बकरी मारै, हक हक हक करि बोलै।
   सबै जीव साँई के प्यारे, उबरहुगे किस बोलै।।
   दिल नहीं पाक पाक नही चीन्हाँ, उसदा षोजन जाँनाँ।
   कहै कबीर मिसति छिटकाई, दोजग ही मन माँनाँ ।।

2. काहे री नलनी तूँ कुम्हिलाँनीं,
   तेरे ही नालि सरोवर पाँनी ।। टेक ।।
   जल मैं उतपति जल में बास, जल में नलनी तोर निवास।।
   ना तलि तपति न ऊपरि आगि, तोर हेतु कहु कासनि लागि।।
   कहै कबीर जे उदिक समान, ते नहीं मूए हँमरें जान।।

3. अब का डरौं डर डरहि समाँनाँ,
   जब थैं मोर तोर पहिचाँनाँ ।। टेक।।
   जब लग मोर तोर करि लीन्हां, भै भै जनमि जनमि दुख दीन्हा।।
   अगम निगम एक करि जाँनाँ, ते मनवाँ मन माँहि समाना।।
   जब लग ऊँच नीच कर जानां, ते पसुवा भूले भ्रँम नाँनाँ।
   कही कबीर मैं मेरी खोई, तबहि राँम अवर नहीं कोई।।

4. बोलानाँ का कहिये रे माई,
   बोलत बोलत तत नसाई।। टेक।।
   बोलत बोलत बढ़े बिकारा, बिन बोल्याँ क्यूँ होइ बिचारा।।
   संत मिलै कछु कहिये कहिये, मिलै असंत मुटि करि रहिये।।
   ग्याँनी सूँ बोल्या हितकारी, मूरिख सूँ बोल्याँ झष मारी।।
   कहै कबीर आधा घट डोलै भर्या होइ तौ मुषाँ न बोलै ।।

5. ऐसा भेद बिगूचन भारी,
   भेद कतेब दीन अरु दुनियाँ कौन पुरिष कौन नारी ।। टेक।।
   एक बूंद एकै मल मूतर, एक चाँम एक गूदा।
   एक जोति थैं सब उतपनाँ, कौन बाँम्हन कौन सूदा।।
   माटी का प्यंड सहजि उतपनाँ, नाद रु व्यंद समाँनाँ।
   विनसि गयौ थैं का नाँव धरिहौ, पढ़ि गुनि हरि भ्रँम जाँना।।
   रज गुन ब्रह्मा तम गुन संकर, सत गुन हरि है सोई।
   कहै कबीर एक राँम जपहु रे, हिंदु तुरक न कोई।।

6. मेरी मेरी करताँ जनम गयौ,
जनम गयौ पर हरि न कह्यौ ।। टेक।।
बारह बरस बालपन खोयौ, बीस बरस कछु तप न कयौ।
तीस बरस कै राँम न सुमिरयौ, फिरि पछितानौ बिरध भयौ।।
सूकै सरवर पालि बँधावै, लुणैं खेत हठि बाड़ि करै।
आयौ चोर तुरंग मुसि ले गयौ, मोरी राखत मुगध फिरै।।
सीस चरन कर कंपन लागै, नैनन नीर अस राल बहै।
जिभ्या बचन सूध नहीं निकसै, तब सुकरित की बात कहै।।
कहै कबीर सुनहु रे संतो, धन संच्यो कछु संगि न गयौ।
आई तलब गोपाल राइ की, मैंडी मंदिर छाड़ि चल्यौ।।

7. कहु पाँड कैसी सुचि कीजै,
सुचि कीजै तो जनम न लीजै ।। टेक ।।
जा सुचि केरा करहु बिचारा, भिष्ट भए लीन्हा औतारा।।
जा कारणि तुम्ह धरती काटी, तामैं मूए जीव सौ साटी।।
जा कारणि तुम्ह लीन जरेऊ, थूक लगाइ कातै सब कोऊ।।
एक खाल घृत केरी साखा, दूजी खाल मैले घृत राखा।
सो घृत सब देवतनि चढ़ायौ, सोई घृत सब दुनियाँ भायौ।।
कहै कबीर सुचि देहु बताई, राम नाँम लीजौ रे भाई ।।

8. अब न बसूँ इहि गाँइ गुसाँई,
तेरे नेवगी खरे सयाँने हो राम ।। टेक।।
नगर एक तहाँ जीव धरम हता, बसै जु पंच किसानाँ।
नैनूँ निकट श्रवनूँ रसनूँ, इंद्री कह्या न मानै हो राँम।।
गाँइ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै।।
जोरि जेवरी खेति पसारै, सब मिलि मोकौं मारै हो राम।।
खोटौ महतौ बिकट बलाही, सिर कसदम का पारै।।
बुरो दिवाँन दादि नहिं लागै, इक बाँधे इक मारै हो राम।।
धरमराई जब लेखा माँग्या, बाकी निकसी भारी।
पाँच किसानाँ भाजि गये हैं, जीव धर बाँध्यौ पारी हो राम।।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, हरि भजि बाँधौ भेरा।
अबकी बेर बकसि बंदे कौं, सब खत करौं नबेंरा।।

9. अवधू ऐसा ग्याँन बिचारी,
ताथै भई पुरिष थैं नारी ।। टेक।।
नाँ हूँ परनी नाँ हूँ क्वारी पूत जन्यूँ द्यौ हारी।
काली मूँड कौ एक न छोड्यो, अजहूँ अकन कुवारी।।
बाम्हन कै बम्हनेटी कहियौं, जोगी कै घरि चेली।
कलमाँ पढ़ि पढ़ि भई तुरकनी, अजहूँ फिरौं अकेली।।
पीहरि जाँऊँ न सासुरै, पुरषहि अंगि न लाँऊँ।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, अंगहिं अंग न छुवाँऊँ ।।

10. जो मैं ग्याँन बिचार न पाया,
तो मैं यौं हीं जन्म गँवाया ।। टेक।।
यहु संसार हाट करि जाँनूँ, सबको बणिजण आया।
चेति सकै सो चेतौ रे भाई, मूरिख मूल गँवाया।।
थाके नैन बैंन भी थाकै, थाकी सुंदर काया।
जाँमण मरण ए द्वै थाकै, एक न थाकी माया।
चेति चेति मेरे मन चंचल, जब लग घट मैं सासा।
भगति जाव परभाव ना जइयौ, हरि के चरन निवासा।।
जै जन जाँनि जपैं जग जीवन, तिनका ग्याँन न नासा।
कहै कबीर वै कबहूँ न हारैं, जाँनि न ढारै पासा ।।

11. डगमग छाड़ि दे मन बौरा,
अब तौ जरें बरें बनि आवै, लीन्हों हाथ सिंधौरा ।। टेक।।
होइ निसंक मगन है्व नाचौ, लोभ मोह भ्रम छाड़ौ।।
सूरौ कहा मरन थैं डरपैं, सती न संचैं भाड़ौ।।
लोक वेद कुल की मरजादा, इहै कलै मैं पासी।
आधा चलि करि पीछा फिरिहै, ह्वै है जग मैं हाँसी।।
यह संसार सकल है मैला, राँम कहै ते सूचा।
कहै कबीर नाव नहीं छाँड़ौं, गिरत परत चढ़ि ऊँचा ।।

12. तन खोजौ नर करौ बड़ाई,
जुगति बिना भगति किनि पाई ।। टेक।।
एक कहावत मुलाँ काजी, राम बिना सब फोकटबाजी।।
नव ग्रिह बाँभण भणता रासी, तिनहुँ न काटी जम कौ पासी।।
कहै कबीर यहु तन काचा, सबद निरंजन राँम नाँम साचा ।।

13. अवधू ऐंसा ग्यानबिचार,
भेरैं चढ़े सु अधधर डूबै, निराधार भये पार ।। टेक।।
ऊघट चले सु नगरि पहूँचे, बाट चले ते लूटे।
एक जेवड़ी सब लपटाँने, के बाँधे के छूटे।।
मंदिर पैसि चहुँ दिसि भीगे, बाहरि रहे ते सूका।
सरि मारे तै सदा सुखारे, अनमारे ते दूषा।।
बिन नैनन के सब जग देखै, लोचन अछते अंधा।
कहैं कबीर कछु समझि परी है, यहु जग देख्या अंधा।।

14. जन धंधा रे जग धंधा, सब लोगनि जाँणौं अंधी,
लोभ मोह जेवड़ो लपटानी, बनहीं गाँठि गह्यौ फंदा ।। टेक।।
ऊँचे टीवे मंछ बसत है, ससा बसे जल माँहीं।
परवत ऊपरि डूबि मूवा, नीर मूवा धूँ काँही।।
जलै नीर तिण षड़ उबरै बैसंदर ले सींचै।
ऊपरि मूल फूल बिन भीतरि, जिनि जान्यौ तिनि नीकै।।
कहै कबीर जाँनही जाँनै, अनजानत दुख भारी।
हारी वाट बटाऊ जीत्या, जानत की बलिहारी।।

15. देखत नैन चल्या जग जाई ।। टेक।।
इक लष पूत सवा लष नाती, ता रावन घरि दिया न बाती।।
लंका सी कोट समंद सी खाईं, ता रावन की खबरि न पाई।।
आवत संग न जात संगाती, कहा भयौ दरि बाँधे हाथी।।
कहै कबीर अंत की बारी, हाथ झाड़ि जैसे चले जुवारी।।

16. मन रे कागद कीर पराया,
कहा भयौ व्यौपार तुम्हारे, कल तर बढ़ै सवाया ।। टेक।।
बड़ै बौहरे साँठो दीन्हौ, कलतर काढ्यो खोटै।
चार लाख अरु असी ठीक दे, जनम लिष्यो सब चोटै।।
अबकी बेर न कागद कीर्यो, तौ धर्म राई सूँ तूटै।।
पूँजी बितड़ि बंदि ले दैं हैं, तब कहै कौन के छूटै।।
गुरुदेव ग्याँनी भयौ लगनियाँ, सुमिरन दीन्हौ होरा।
बड़ी निसरना नाँव राँम को, चढ़ि गयौ कीर कबीरा।।

17. माया तजूँ तजी नहीं जाइ,
फिर फिर माय मोहि लपटाइ ।। टेक।।
माया आदर माया माँन, माया नहीं तहाँ ब्रह्म गियाँन।।
माया रस माया कर जाँन, माया कारनि ततै परान।।
माया जप तप माया जोग, माया बाँधे सबही लोग।।
माया जल थलि माया आकासि, माया ब्यापि रही चहुँ पासि।।
माया माता माया पिता असि, माया अस्तरी सुता ।।
माया मारि करै त्यौहार, कहैं कबीर मेरे राँम अधार।।

18. हरि ठग जग कौं ठगौरी लाई,
हरि कै वियोग कैसे जीऊँ मेरी माई ।। टेक ।।
कौन पुरिष को काकी नारी, अभिअंतरि तुम्ह लेहु बिचारी।।
कौन पूत को काको बाप, कौन मरैं कौन करै संताप।।
कहै कबीर ठग सौं मन माना, गई ठगौरी ठग पहिचाना।।

19. साईं मेरे साजि दई एक डोली,
हस्त लोक अरु मैं तैं बोली ।। टेक।।
हक झंझर सम सूत खटोला, त्रिस्ना बाद चहुँ दिसि डोला।।
पाँच कहार का भरम न जाना, एकै कह्या एक नहीं माना।।
भूमर घाम उहार न छावा, नैहर जात बहुत दुख पावा।।
कहै कबीर बर बहु दुख सहिये, राम प्रीति करि संगही रहिये।।

20. विनसि जाइ कागद की गुड़िया,
जब लग पवन तबै लग उड़िया ।। टेक।।
गुड़िया कौ सबद अनाहद बोलै, खसम लियै कर डोरी डोलै।
पवन थक्यो गुड़िया ठहरानी, सीस धुनै धुनि रोवै प्रॉनी।।
कहे कबीर भजि सारंग पानी, नाहीं तर ह्वैहैं खैंचा तानी।।

21. मन रे तन कागद का पुतला।
लागै बूँद बिनसि जाइ छिन में, गरब कर क्या इतना ।। टेक।।
माटी खोदहिं भीत उसारैं, अंध कहै घर मेरा।
आवै तलब बाँधि लै चालैं, बहुरि न करिहै फेरा।।
खोट कपट करि यहु धर जारयो, लै धरती मैं गाड्यौ।
रोक्यो घटि साँस नहीं निकसै, ठौर ठौर सब छाड्यौ।।
कहैं कबीर नट नाटिक थाके, मदला कौन बजावै।
गये पानियाँ उझरी बाजी, को काहू कै आवै।।

22. हँमारै राँम रहीम करीमा केसो, अलाह राँम सति सोईं।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई ।। टेक।।
इनकै काजी मुलाँ पीर पैकंबर, रोजा पछिम निवाजा।
इनकै पूरब दिसा देव दिज पूजा, ग्यारसि गंग दिवाजा।।
तुरक मसीति देहुरै हिंदू, दहूँठा राँम खुदाई।
जहाँ मसीति देहुरा नाँहीं, तहाँ काकी ठकुराई।।
हिंदू तुरक दोऊ रह तूटी, फूटी अरु कनराई।
अरध उरध दसहूँ दिस जित तित, पूरि रह्या राम राई।।
कहै कबीरा दास फकीरा, अपनी रहि चलि भाई।
हिंदू तुरक का करता एकै, ता गति लखी न जाई ।।

23. काजी कौन कतेब बाषांनै।
पढ़त पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहीं जानैं ।। टेक।।
सकति से नेह पकरि करि सुंनति, बहु नबदूँ रे भाई।
जौर षुदाइ तुरक मोहिं करता, तौ आपै कटि किन जाई।।
हौं तौ तुरक किया करि संनति, औरति सौं का कहिये।
अरध सरीरी नारि न छूटै, आधा हिंदू रहिये।।
छाँड़ि कतेब राँम कहि काजी, खून करत हौ भारी।
पकरी टेक कबीर भगति कीं, काजी रहै झष मारी।।

24. कौंन मरै कौन जनमै आई,
सरग नरक कौने गति पाई ।। टेक।।
पंचतत अतिगत थैं उतपनाँ, एकै किया निवासा।
बिछुरे तत फिरि सहजि समाँनाँ, रेख रही नहीं आसा।।
जल मैं कुंभ कुंभ मैं जल है, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहिं समानाँ, यह तत कथौ गियानी।।
आदैं गगनाँ अंतैं गगना, मधे गगनाँ माई।
कहै कबीर करम किस लागै, झूठी संक उपाई ।।

25. झगरा एक नवेरो राँम,
जें तुम्ह अपने जन सूँ काँम ।। टेक।।
ब्रह्म बड़ा कि जिनि रू उपाया, बेद बड़ा कि जहाँ थैं आया।।
यह मन बड़ा कि जहाँ मन मानै, राम बड़ा कि राँमहि जानैं।
कहै कबीर हूँ खरा उदास, तीरथ बड़े कि हरि के दास।।

26. पंडित बाद बदंते झूठा।
राँम कह्याँ दुनियाँ गति पावै, षाँड कह्याँ मुख मीठा ॥ टेक ॥
पावक कह्याँ पाव जे दाझैं, जल कहि त्रिषा बुझाई।
भोजन कह्याँ भूष जे भाजै, तौ सब कोई तिरि जाई॥
नरक कै साथि सूवा हरि बोलै, हरि परताप न जानै।
जो कबहूँ उड़ि जाइ जंगल में, बहुरि न सुरतै आनै॥
साची प्रीति बिषै माया सूँ, हरि भगतनि सूँ हासी।
कहै कबीर प्रेम नहीं उपज्यौ, बाँध्यौ जमपुरि जासी ॥

27. मन रे मन ही उलटि समाँना।
गुर प्रसादि अकलि भई तोकौं नहीं तर था बेगाँनाँ ॥ टेक॥
नैड़ै थैं दूरि दूर थैं नियरा, जिनि जैसा कर जाना।
औ लौ ठीका चढ्या वलीडैं, जिनि पीया तिनि माना॥
उलटे पवन चक्र षट वेधा, सुनि सुरति लै लागी।
अमर न मरै मरै नहीं जीवै, ताहि खोजि बैरागी॥
अनभै कथा कवन सी कहिये, है कोई चतुर विवेकी।
कहै कबीर गुर दिया पलीता, सौ झल बिरलै देखी॥

28. संतों भाई आई ग्याँन की आँधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उडाँणी; माया रहै न बाँधी ॥ टेक॥
हिति चित की द्वै थूँनी गिराँनी, मोह बलिंडा तूटा।
त्रिस्नाँ छाँनि परि धर ऊपरि, कुबधि का भाँडाँ फूटा॥
जोग जुगति करि संतौं बाँधी, निरचू चुवै न पाँणी।
कूड़कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जाँणी॥
आँधी पीछे जो जल बूठा, प्रेम हरि जन भींनाँ।
कहै कबीर भाँन के प्रगटे, उदति भया तम षींनाँ ॥

29. तननाँ बुनना तज्या कबीर
राँम नाँम लिखि लिया शरीर ॥ टेक॥
जब लग भरौं नली का वेह, तब लग टूटै राँम सनेह॥
ठाड़ी रोवै कबीर की माइ, ए लरिका क्यूँ जीवै खुदाइ।
कहैं कबीर सुनहुँ री माई, पूरणहारा त्रिभुवन राइ॥

30 कहा नर गरबसि थोरी बात।
मन दस नाज, टका दस गँठिया, टेढ़ौ टेढ़ौ जात ॥ टेक॥
कहा लै आयौ यहु धन कोऊ, कहा कोऊ लै जात।
दिवस चारि की है पतिसाही, ज्यूँ बन हरियल पात॥
राजा भयौ गाँव सौ पाये, टका लाख दस व्रात॥
रावन होत लंका को छत्रपति, पल मैं गई बिहात॥
माता पिता लोक सुत बनिता, अंत न चले सँगात।
कहै कबीर राम भजि बौरे, जनम अकारथ जात ॥

31. लोका मति के भोरा रे।
जो कासी तन तजै कबीरा, तौ रॉंमहि कहा निहोरा रे । टेक।।
तब हम वैसे अब हम ऐसे, इहै जनम का लाहा।।
ज्यूँ जल मैं जल पैसि न निकसै, यूँ ढुरि मिलै जुलाहा।।
रॉंम भगति पर जाकौ हित चित, ताकी अचिरज काहा।।
गुर प्रसाद साध की संगति, जग जीते जाइ जुलाहा।।
कहै कबीर सुनहु रे सँतो, भ्रमि परे जिनि कोई।
जस कासी तस मगहर ऊसर, हिरदैं रॉंम सति होई।।

32. मन बनजारा जागि न सोई
लाहे कारनि मूल न खोई ।। टेक ।।
लाहा देखि कहा गरबाँना, गरब न कीजै मूरखि अयाँनाँ।
जिन धन संच्या सो पछिताँनाँ, साथी चलि गये हम भी जाँवाँ।।
निसि अंधियारी जागहु बंदे, छिटकन लागे सबही संधे।।
किसका बंधू किसकी जोई, चल्या अकेला संगि न कोई।।
ढरि गए मंदिर टूटे बंसा, सूके सरबर उड़ि गए हंसा।।
पंच पदारथ भरिहै खेहा, जरि बर जायगी कंचन देहा।।
कहत कबीर सुनहु रे लोई, रॉंम नॉंम बिन और न कोई ।।

33. सब मदिमाते कोई न जाग
ताथे संग ही चोर घर मुसन लाग ।। टेक।।
पंडित माते पढ़ि पुराँन, जोगी माते धरि धियाँना।।
सन्यासी माते अहंमेव, जपा जु माते तप के भेव।।
जागैं सुक ऊधव अकूर, हणवंत जागे ले लंगूर।।
संकर जागे चरन सेव, कलि जागे नाँमाँ जैदेव।।
ए अभिमान सब मन के कॉंम, ए अभिमाँन नहीं रही ठाम।।
आतमाँ राम कौ मन बिश्राम, कहि कबीर भजि रॉंम नॉंम ।।

34. आऊँगा न जाऊँगा न मारूँगा न जीऊँगा।
गुरु के सबद मैं रमि रमि रहूँगा ।। टेक ।।
आप कटोरा आपैं थारी, आपैं पुरिखा आपै नारी।।
आप सदाफल आपै नींबू, आपैं मुसलमाँन आपै हिंदू।।
आपै मछ कछ आपै जाल, आपैं झींवर आपैं काल।
कहै कबीर हम नाहीं रे नाहीं, ना हम जीवत न मुवले माँहीं ।।

35. भलै नींदौ भलै नींदौ भलैं नींदौ लोग,
तनौ मन रॉंम पियारे जोग ।। टेक ।।
मैं बौरी मेरे रॉंम भरतार, ता कारँनि रचि करौं स्यँगार।।
जैसे धुबिया रज मल धोवै, हर तप रत सब निंदक खोवै।
न्यंदक मेरे माई बाप, जन्म जन्म के काटे पाप।।
न्यंदक मेरे प्रान अधार, बिन बेगारि चलावै भार।
कहै कबीर न्यंदक बलिहारी, आप रहै जन पार उतारी।।

36. अलह राँम जीऊँ तेरे नाँई,
बंदे ऊपरि मिहर करी मेरे साँई ।। टेक।।
क्या ले माटी भुँइ सूँ मारैं, क्या जल देइ न्हवायें।
जो करै मसकीन सतावै, गूँन ही रहै छिपायें।।
क्या तू जू जप मंजन कीये, क्याँ मसीति सिर नाँयें।
रोजा करै निमाज गुंजारै, क्या हज काबै जाँयें।।
ब्राह्मण ग्यारसि करै चौबींसौं, काजी महरम जाँच।
ग्यारह मास जुदे क्यू कीये, एकहि माँहि समाँन।।
जौ रे खुदाइ मसीति बसत है, और मुलिक किस केरा।
तीरथं मूरति राँग निवासा, दुहु मैं किनहूँ न हेरा।।
पूरिब दिसा हरी का बासा, पछिम अलह मुकाँमा।
दिल ही खोजि दिंलै दिल भीतरि, इहाँ रांम रहिमाँनाँ।।
जेंती! औरति मरदाँ कहिये, सब मैं रूप तुम्हारा।
कबीर पंगुडा अलह राँम का, हरि गुर पीर हमारा।।

37. केऊ केऊ तीरथ ब्रत लपटानाँ, केऊ केऊ केवल राँम निज जाँना।।
अजरा अमर एक अस्थाँनाँ, ताका मरम काहू बिरलै जानाँ।।
अबरन जोति सकल उजियारा, द्रिष्टि समाँन दास निस्तारा।।
जो नहीं उपज्या धरनि सरीरा, ताकै पथि न सींच्या नीरा।।
जा नहीं लागे सूरजि के बाँनाँ, सो मोहि आँनि देहु को दाँनाँ।।
जब नहीं होते पवन नहीं पानी, तब नहीं होती सिष्टि उपाँनी।।
जब नहीं होते प्यंड न बासा, तब नहीं होते धरनी अकासा।।
जब नहीं होते गरभ न मूला, तब नहीं होते कली न फूला।।
जब नहीं होते सबद न स्वादं, तब नहीं होते बिद्या न वादं।।
जब नहीं होते गुरू न चेला, तब गम अगमै पंथ अकेला।।
अवगति की गति क्या कहूँ, जिसकर गाँव न नाँव।
गुन बिहूँन का पेखिये, काकर धरिये नाँव।।
आदम आदि सुधि नहीं पाई, माँ माँ हवा कहाँ थैं आई।।
जब नहीं होते राँम खुदाई, साखा मूल आदि नहीं भाई।।
जब नहीं होते तुरक न हिंदू, माका उदर पिता का ब्यंदू।।
जब नहीं होते गाइ कसाई, तब बिसमला किनि फरमाई।।
भूले फिरैं दीन ह्वै धाँवै, ता साहिब का पंथ न पावै।।
संजोगैं करि गुँणा धरया, बिजोगैं गुँण जाइ।।
जिभ्या स्वारथि आपणौ, कीजै बहुत उपाइ।।